गृहलक्ष्मी-ग्रन्थमाला-संख्या १०.

भारतीय-आत्मत्याग

लेखक—

श्रीयुत कुं० नारायणसिंह जी

भारतीय-आत्मत्याग

(आत्मत्यागी स्वामिभक्त भारतीय महात्माओं के जीवन-वृत्तान्त)

लेखक

श्रीयुत कुंवर नारायणसिंह जी

प्रकाशक

पंडित सुदर्शनाचार्य्य, बी० ए०,
'गृहलक्ष्मी-कार्य्यालय',
प्रयाग ।

प्रथम संस्करण]   १९१५   [मूल्य दस आने

पं० सुदर्शनाचार्य्य, बी० ए० के प्रबन्ध से
'सुदर्शन' प्रेस, प्रयाग, में मुद्रित
सन् १९१५ ई० ।

पुस्तक मिलने के पते:—

(१) मैनेजर, "गृहलक्ष्मी-कार्य्यालय",
इलाहाबाद ।

अथवा

(२) श्रीयुत कुंवर नारायणसिंह जी,
करौली स्टेट ।

वक्तव्य
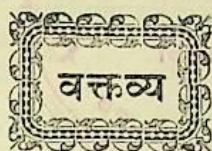
जब मैँ एन्ट्रैन्स क्लास मैँ पढ़ता था तभी मिसेज् यंग की 'ए बुक ऑफ गोल्डन डीड्स्' (A Book of Golden deeds) नामक पुस्तक पढ़ने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। पुस्तक के टाईटिल पेज़ पर 'Of all times and all lands' लिखा देख कर मुझे यह देखने का कुतूहल हुआ कि देखँ मिसेज़ यंग की लेखनी ने किस भारत सुपुत्र को अजर अमर बनाया है। परन्तु शोक! भारतवासिओँ की तो किसी नेशन मैँ गणना ही नहीँ फिर बेचारोँ को ऐसा उच्चासन मिलने की कहाँ आशा! गदर के समय मैँ कुछ अंगरेजी जनरलोँ द्वारा प्रदर्शित वीरता के एक दो उदाहरण के अतरिक्त किसी भी भारत-मुखोज्ज्वलकारी सुपुत्र का नाम उस पुस्तक मैँ न देख कर मुझे हार्दिक दुःख हुआ। जिस भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता को सभी विद्वान निर्विवाद स्वीकार करते हैँ उस बूढ़े भारतवर्ष मैँ क्या एक भी मनुष्य ऐसा पैदा नहीँ हुआ जिसका कि कर्म 'Golden deed' कहलाने के योग्य समझा जाय यह विचार एक बार मेरे हृदय मैँ उठ आया। मैँ ने ईश्वर का नाम लेकर उसी दिन संकल्प किया कि अपनी

मातृभाषा में एक ऐसी पुस्तक लिख कर यह दिखला दूँगा कि भारत में ऐसे उदाहरणों की कुछ कमी नहीं है, जिस से अंगरेजी-शिक्षित नवयुवकों के हृदय का यह भ्रम कि भारत-वर्ष ऐसे उदाहरणों से नितान्त शून्य है दूर हो जावे और आत्मगौरव का उनके हृदय में आभास हो आवे। उस सर्व-शक्तिमान परमात्मा का कोटिशः धन्यवाद है कि जिसकी असीम कृपा से आज मेरा वह संकल्प पूर्ण हुआ।

जिस देश के लोग राजा से लेकर सामान्य पुरुष तक अपने धर्म को पहचानते थे और उसके लिए प्राणत्याग तक का कष्ट सहन करने को प्रफुल्लित चित्त से तैयार हो जाते थे, जहाँ पर 'शिव, दधीच, हरिचंद नरेसू। सहे धर्म हित कठिन कलेसू॥' आदि के उपाख्यानों को लोग आज तक पढ़ते सुनते हैं और जहाँ पर 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः,' आदि धर्मोपदेशों का अब तक पठन और मनन होता है, भला उस देश में आत्मत्याग के प्रज्वलित उदाहरणों की क्या कमी। परन्तु भारतवासी आडम्बर करना नहीं जानते थे, आडम्बर से वे कोसों दूर भागते थे। जिस देश में तथा जिस जाति में कभी कभी ऐसे उदाहरण प्रदर्शित होते हैं वहीं पर सर्वसाधारण को बतलाने के लिए उनका ढिंढोरा पीटा जाता है पर जहाँ पर कि कर्तव्य की जंजीर से बंधे हुए लोग नित्य-प्रति ही आत्मत्याग के ज्वलंत उदाहरण प्रदर्शित करते हैं

वहाँ पर ऐसे ऐसे उदाहरणोँ का बहुत कम उल्लेख पाया जाना स्वाभाविक है।

रामायण, महाभारत तथा पुराणोँ को आजकल के नव-शिक्षित विद्वान (Pre-historic age के समझ कर) मान्य नहीँ समझते, इसी लिए मैँ ने उन मेँ से एक भी उदाहरण इस पुस्तक मेँ सम्मिलित नहीँ किया है। पुस्तक मेँ ज्यादातर उदाहरण राजपूताने के ही इतिहास से लिये गये हैँ। इसका कारण यह है कि मैँ राजपूताने का ही रहनेवाला हूँ इस लिये वहाँ का हाल मैँ ने बहुत कुछ सुना और पढ़ा भी है। पुस्तक लिखने मेँ मुझे कर्नल टाडसाहब के 'राजस्थान' से बहुत कुछ सहायता मिली है। कई जीवनियाँ 'सरस्वती' मेँ प्रकाशित कविताओँ के ही आधार पर लिखी गयी हैँ, जिनके लिए मैँ उक्तकविओँ का धन्यवाद करता हूँ।

मैँ हिन्दी का कोई सुलेखक नहीँ हूँ और न मैँ ने आज तक कभी हिन्दी लिखने का अभ्यास ही किया है परन्तु किसी अच्छे लेखक को इस कार्य मेँ हाथ डालते न देख कर और समय के हेर फेर से इसकी नितान्त आवश्यकता समझ कर मैँ ने इस कार्य को प्रारम्भ किया और ईश्वर कृपा से आज यह समाप्त भी हुआ। विद्वान पाठक यदि इस मेँ किसी प्रकार की ऐतिहासिक त्रुटियाँ पावेँ—जिनका कि मुझे भय हैँ कि अवश्य ही

मेरी अज्ञानता से रह गयी होंगी—तो कृपा करके मुझे सूचित कर दें जिससे दूसरे संस्करण में उनका सुधार कर दिया जाय।

श्रीमान् पंडित सुदर्शनाचार्य जी, बी० ए० सम्पादक 'गृहलक्ष्मी' का म हृदय से धन्यवाद करता हूँ कि जिन्होंने कृपा करके निज प्रबंध से अपने निरीक्षण में इस पुस्तक को छपवा कर प्रकाशित किया है।

नारायण सिंह,
करौली।

सूची

भारतीय-आत्मत्याग

देवराज भाटी

[एक ब्राह्मण का आत्म त्याग]

"जो शरण आवे उसे बढ़ कर बचाना भीति से।
लोकरंजन प्रीति से करना सनातन रीति से ॥
है यही सिद्धान्त सच्चा आर्य-हिन्दू-जाति का।
उच्च यह संस्कार है अनिवार्य हिन्दू-जाति का ॥

—कमलाकर।

ज टन्नौर में बड़ी धूमधाम हो रही है। जिधर देखिए उधर ही आनन्द ही आनन्द छाया हुआ है। स्थान स्थान पर मंगल-सूचक बाजे बज रहे हैं। द्वार द्वार पर वंदन-वारें बंधी हुई हैं और आबाल-वृद्ध-स्त्री-पुरुष हर्ष में पुलकित होते हुए घूम रहे हैं। आज महाराज विजयराय टन्नौर की राजगद्दी पर बैठे हैं, इसीसे यह सारा आनन्द मनाया जा रहा है। थोड़ी ही देर में एक छोटी सी सेना दुर्ग के बाहर निकली और मुलतान की ओर चल पड़ी। मुलतान के बराह और लंगाहा जाति के राजाओं से इस

घराने की पुरानी शत्रुता थी। 'टीका*-दौरा' की प्रथा के अनुसार पुराने वैर का बदला चुकाने के लिए उन पर चढ़ाई की है।

यों तो मुलतान का राजा तथा उसके सहायक सर्वदा सशंक रहते थे, परन्तु इस तरह अचानक चारों ओर से घिर जाने के कारण उनके छक्के छूट गये। परन्तु वे भी तो बहादुर थे, भला युद्ध से कैसे पीछे हटते? शीघ्र ही अपनी सेना को एकत्रित कर मैदान में आ डटे। घमसान युद्ध आरम्भ हो गया। दोनों दल बड़ी वीरता से लड़ने लगे, परन्तु अंत में विजयराय की ही विजय हुई और बराह और लंगाहा लोगों को रण-विमुख होकर भागना पड़ा। विजयराय बहुत सी लूट करके विजय-दुंदुभी बजवाता अपनी राजधानी को लौट आया और सुखपूर्वक राज्य-शासन करने लगा।

इधर बराह और लंगाहा लोगों के हृदय में पराजित होने के कारण क्रोध की अग्नि प्रज्वलित हो रही थी और वे लोग भाटिओ से बदला लेने के लिए किसी अनुपम समय की प्रतीक्षा कर रहे थे। संवत् ८६२ में विजयराय के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम देवराज रक्खा गया। महाराज विजयराय अपने पुत्र का जन्मोत्सव बड़े हर्ष से मना रहे थे। इस बार इन लोगों ने समय पाकर भाटिओं पर चढ़ाई कर दी और खूब ही लड़ाई हुई। परन्तु दैवयोग से इस बार भी भाटियों की ही जीत हुई और बराह और लंगाहा लोगों को बड़ी हानि उठा कर मैदान से भागना पड़ा।

---

*राजपूतों में यह प्रथा बड़ी पुरानी है। इसके अनुसार राजा गद्दी पर बैठते ही अपने पास के किसी शत्रु पर चढ़ाई करता है।

जब इन जातियों के सरदारों ने देखा कि वीर भाटिओं से खुले मैदान लड़ कर अपने वैर का बदला लेना असम्भव है तो उन्होंने एक षड्यंत्र रचा। उन्होंने इस वैर-विरोध का अंत कर देने के बहाने से विजयराय से कहला भेजा कि आप के महाराजकुमार देवराज से हम अपनी पुत्री का सम्बन्ध करना चाहते हैं। विजयराय ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और नियत समय पर एक छोटी सी फौज लेकर अपने लड़के का विवाह करने चल दिये। वहाँ पहुँचते ही विश्वासघातियों ने उन्हें घेर लिया। तब उन्हें अपनी भयंकर भूल मालूम हुई। अंत को लड़ाई छिड़ गयी और थोड़ी देर तक खूब युद्ध हुआ। परन्तु थोड़े से मनुष्य उन असंख्य वैरियों का कब तक सामना कर सकते थे? अंत में बेचारा विजयराय अपने ८०० सैनिकों के साथ खेत आया।

दैवयोग से देवराज शत्रुओं की आँख बचा कर भाग निकला, परन्तु मालूम होते ही दुष्टों ने उसका पीछा किया। देवराज ने जब देखा कि भागने पर भी इन लोगों से प्राण बचाना असम्भव है तो उसने एक दयालु ब्राह्मण की शरण ली। उस ब्राह्मण ने उसे अभयदान देकर अपने पास रख लिया।

सुना जाता है कि वह ब्राह्मण उस समय अपने खेत पर 'नींदनी'* कर रहा था। उसके साथ उसके चार पुत्र भी काम कर रहे थे, परन्तु उस समय उसका एक पुत्र खेत पर से ही किसी कार्यवश परदेश चला गया था और घरवालों को भी इसकी खबर न थी।

* नलाई या निराई।

राजकुमार की प्रार्थना सुनते ही उसने कहा—"आप अपने राजसी ठाठ को उतार कर एक ओर छिपा दीजिए और यह धोती पहन और खुरपी ले हम लोगों की भाँति नींदनी करना शुरू कर दीजिए। जहाँ तक मुझ गरीब से बनेगा आपकी रक्षा करूँगा।" ब्राह्मण के इस सरल कथन में कितना उच्च भाव भरा हुआ है। सच है, देहाती लोगों का हृदय शहरवालों की अपेक्षा ज्यादा दयालु होता है और साथ ही साथ शहर वालों की भाँति वे आडम्बर करना बिल्कुल ही नहीं जानते। आपत्ति के मारे राजकुमार ने ब्राह्मण के कहने के अनुसार ही किया।

थोड़ी ही देर में राजकुमार के पीछा करनेवाले वहाँ आ पहुँचे और राजकुमार के विषय में पूछने लगे कि कोई मनुष्य अमुक सूरत शकल का उधर होकर गया है या नहीं? उस ब्राह्मण ने उत्तर दिया कि "महाराज, हम लोग अपने काम में लगे हुए हैं, हमको नहीं मालूम कि मार्ग में कौन जाता है और कौन आता है।" परन्तु आगे उसके जाने का कोई चिन्ह न पाकर उन्हें शंका हुई कि देवराज इन्हीं में से एक है। उन्हों-ने फिर आ कर पूँछा कि ये चारों मनुष्य तेरे कौन हैं? हमको शंका होती है कि हमारा अपराधी इन्हीं में है। उस वृद्ध ब्राह्मण ने उत्तर दिया "महाराज, ये मेरे चारों पुत्र हैं। यदि आपको विश्वास न हो तो ठहर जाइये, थोड़ी ही देर में घर से खाने को भोजन आवेगा, तब आप निश्चय कर लें कि कितने मनुष्यों के लिए खाना आता है। यदि पाँच मनुष्यों के खाने से कम खाना आवे तो आपका अपराधी अवश्यमेव हम ही में है, यदि ऐसा न हो तो नहीं!"

थोड़ी ही देर में घर से पाँच मनुष्योँ के लिए खाना आया और उन पाँचों ने एक साथ बैठ कर भोजन किया । इस प्रकार उस ब्राह्मण ने अन्य जाति के मनुष्य के साथ भोजन करके भी एक दीन राजकुमार की रक्षा की ।

जाति का बंधन भारतवर्ष में बड़ा प्रबल है और ब्राह्मणों में तो खान पान का विचार और भी अधिक है। परन्तु सच बात तो यह है कि जब मनुष्य का चित्त दया से आर्द्र होता है तो उसे ऐसी बातों का भी ध्यान नहीं रहता। बस, इसी का नाम सच्चा आत्मत्याग है ।

इस घटना के कुछ ही समय बाद देवराज ने अपने मामा की सहायता से अपनी राजधानी शत्रुओं से छीन ली और अपने पिता की मृत्यु का अच्छा बदला चुकाया ।

उस ब्राह्मण के वंशधरों का अब तक भाटियों में बड़ा सत्कार होता है और वे लोग 'चारन' कहलाते हैं।

संयमराय

न्दू सम्राट् वीरवर पृथ्वीराज समदिशिखर के नृप को पराजित कर लौट रहे थे। मार्ग मेँ उनसे शहाबुद्दीन गोरी से मुठभेड़ हो गयी। बड़ा भारी युद्ध हुआ जिसमेँ मुसलमानोँ की पचास हजार सेना काम आयी और शहाबुद्दीन गोरी पकड़ा गया जो कि आठ हजार घोड़े देने पर पीछे से छोड़ दिया गया था। इसी युद्ध मेँ घायल हुए कुछ वीर मार्ग भूलने के कारण महोवे जा पहुँचे। जब कि ये लोग नगर के निकट पहुँचे तो बड़ी प्रचण्ड आँधी के साथ वर्षा होने लगी। निकट ही महोवा-नरेश परिमाल का बाग था। घायलोँ ने विश्राम के लिए उसमेँ प्रवेश किया, परन्तु बाग के माली ने उनको रोका। इस पर एक वीर ने क्रोध मेँ आ उसे मार डाला।

जब यह खबर पारिमाल को मिली तो उसने कुछ सैनिक उनके पकड़ने को भेज दिये। घायल वीर लोग थोड़ी देर तक तो वीरता से लड़े, परन्तु इतने मनुष्योँ का सामना कहाँ तक करते? परन्तु शत्रु की शरण मेँ जाने की अपेक्षा रणभूमि मेँ प्राण त्यागना श्रेष्ठ समझ वे सब बहादुरी से लड़ते हुए मारे गये।

परिमाल के इस दुष्ट व्यवहार का सम्वाद जब दिल्ली-नरेश पृथ्वीराज के कर्णगोचर हुआ तो वह मारे क्रोध के जल

उठे। तुरन्त ही अपने आश्रित जनों के साथ बुरा बर्ताव करनेवालों से बदला चुकाने के लिए एक बड़ी सेना लेकर महोबे पर उन्होंने चढ़ाई कर दी।

इधर परिमाल भी अपने हाथों बुलाई आपत्ति का सामना करने अपनी फौज को सजा कर उसके सम्मुख जा डटा। कुछ दिन तक घोर युद्ध होता रहा, परन्तु पृथ्वीराज ही की विजय होती देख परिमाल ने अपने प्रसिद्ध वीर सेनापति आल्हा और ऊदल दोनों भाईयों को—जो कि रुष्ट होकर कन्नौज चले गये थे—बुला भेजा और पृथ्वीराज से एक मास तक युद्ध बन्द रखने की प्रार्थना की। वीरवर पृथ्वीराज ने बड़ी उदारता से परिमाल की प्रार्थना स्वीकार की। युद्ध बन्द कर दिया गया।

जगनक भाटने जो कि आल्हा और ऊदल को बुलाने कन्नौज भेजा गया था, पृथ्वीराज के आक्रमण का सब वृत्तान्त कह सुनाया और कहा कि चंदेलराज परिमाल ने आप की सहायता चाही है। यह सुन कर वे दोनों भाई बोले, "हमैं महोबे से कुछ काम नहीं। जिस राजा ने बिना किसी अपराध के हमको अपमानित करके अपने देश से निकाल दिया, उसकी सहायता कैसी? हमारे पिता ने उसके लिए प्राण तक दे दिये और हमने स्वामिभक्ति से उसकी सेवा करते हुए उसके राज्य की वृद्धि की; जिसके पुरस्कार के बदले हम जन्म-भूमि से ही निकाल दिये गये।"

भाट ने जब उनके ऐसे वाक्य सुने तो वह निराश होकर उनकी माता देवलदेवी के पास जाकर कहने लगा "क्या आप

को अपनी प्रतिज्ञा स्मरण नहीँ है जो कि आपने की थी कि आमरण महोवे की विपत्ति मेँ रक्षा करूँगी ? क्या आप वीर पुत्रोँ की माता तथा स्वयं वीरा होते हुए भी स्वदेश को इस प्रकार शत्रुओँ के हाथ से पीड़ित देख कर भी चुप बैठी रहेँगी ?"

यह वाक्य सुनते ही देवलदेवी अपने दोनोँ पुत्रोँ से बोली, "हे पुत्रो ! शीघ्र ही युद्ध के लिए तैयार हो जाओ और विपत्ति मेँ पड़ी हुई अपनी जन्म-भूमि की रक्षा करने शीघ्र ही महोवे को प्रस्थान करो ।"

माता की यह आज्ञा सुन कर आल्हा तो कुछ न बोला, परन्तु ऊदल ने कहा, "माता जी, अब हमारा महोवे से क्या सम्बन्ध ? हमारी तो अब कन्नौज ही जन्म-भूमि है । क्या हम वे दिन भूल गये हैँ जब कि हम अपमान से निकाले गये थे ।"

माता ने ऊदल का ऐसा कथन सुन कर एक दुःखपूर्ण लम्बी साँस ली और कहने लगी, "हे ईश्वर ! पवित्र बनाफर कुल को कलंकित करनेवाले ऐसे पुत्रोँ के होने से तो मैँ बाँझ रहती तो अच्छा था । हे ईश्वर ! ये होते ही क्योँ न मर गये ? हाय, इन्होँने मेरी कोख को क्योँ कलंकित किया ? हाय, इनको यशराज के पुत्र कहते भी शर्म लगती है ।"

माता के ऐसे क्रोधमिश्रित दुःखभरे वचन सुन कर दोनोँ भाई महोवे जाने के लिए तैयार हो गये और प्रतिज्ञा की कि "जब तक शरीर मेँ प्राण हैँ महोवे की रक्षा करेँगे और अपनी वीरता से माता को साबित कर बतावेँगे कि हम

कायर नहीँ, हम पवित्र बनाफर वंशोत्पन्न यशराज के सच्चे पुत्र कहलाने योग्य ही हैँ।"

तुरन्त ही शीघ्रगामी घोड़ोँ पर सवार होकर दोनोँ भाई माता सहित महोवे पहुँचे। उधर एक मास का समय भी व्यतीत हो गया था। दोनोँ दल तुरन्त ही तैयार होकर समरांगण मेँ आ भिड़े।

युद्ध फिर आरम्भ हो गया। परन्तु परिमाल इस युद्ध मेँ उपस्थित न था। प्रसिद्ध कवि चंद ने लिखा है कि वह पृथ्वीराज की असंख्य सेना को देख कर भय से संधि करने को राजी हो गया; परन्तु वीर आल्हा ने उनके इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीँ किया। इसलिए वह पुत्र-सहित शहर को भाग गया।

परिमाल की रानी ने यह देख स्वामी से तो कुछ न कहा, परन्तु अपने पुत्र की ओर देख कड़क कर बोली, "अरे निर्लज्ज, तैँने मेरे गर्भ से जन्म लेकर यह नीच कर्म किया कि इस प्रकार रण से भाग आया है! तेरे पिता की तो बुढ़ापे मेँ बुद्धि बिगड़ गयी है; परन्तु तैँने भी चंदेलवंश को कलंकित किया! जा, हट जा मेरे सामने से, निर्लज्ज कायर! मुझे अपना मुख मत दिखला।"

माता के ऐसे वचन सुन ब्रह्मजित बोला, "माता जी! आप क्या कहती हैँ? मैँ अपने पिता की आज्ञा शिरोधार्य समझ कर उनको पहुँचाने को यहाँ चला आया हूँ। अब मैँ जाता हूँ और अपने कार्य से दिखला दुँगा कि मैँ वीर माता का एक सुपुत्र हूँ।"

भारतवर्ष में जब ऐसी उदार-चरिता, वीरा और विदुषी माताएँ थीं तभी भारत उन्नति के शिखर पर शोभायमान था। क्योंकि संतान के ऊपर माता का ही पूर्ण प्रभाव पड़ता है। परन्तु जब से भारत की स्त्रियाँ मूर्ख होने लगीं, बस, तभी से इसका अधःपतन आरम्भ हो गया।

माता की सांत्वना कर वीर ब्रह्मजित रणस्थल में लौट आया और अंत तक वीरता से लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ। यह युद्ध बड़ा ही लोमहर्षण हुआ था। पृथ्वीराज के बड़े बड़े सामंत इस युद्ध में काम आये थे। प्रसिद्ध वीर सामंत काका कान्ह भी इसी युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए। स्वयं पृथ्वीराज भी आल्हा ऊदल के हाथ से घायल हो कर मूर्छित हुए थे। वीर संयमराय उनके आगे बड़ी वीरता से लड़ता लड़ता घायल होकर गिर पड़ा। उसकी दोनों जाँघें कट गयी थीं। उसमें घसीट कर भी चलने की सामर्थ्य भी न थी। थोड़ी ही दूर पर वीर पृथ्वीराज अचेत पड़े हुए थे और चील कौवे उनकी आँखें नोचने की फिराक में उनके मृतप्रायः शरीर पर बैठे हुए थे।

अपने स्वामी को इस करुणोत्पादक दशा में देख कर वीर संयमराय के हृदय में स्वामिभक्ति का स्रोत बह निकला। जिसके अन्न से संयमराय का शरीर पला था, क्या वह अपने उसी स्वामी के मास को चील कौवों से खाते देख सकता था। परन्तु प्रयत्न करने पर भी संयमराय में एक हाथ भर भी घिसटने की सामर्थ्य नहीं थी। यह देख कर उसकी आत्मा को अत्यन्त दुःख हुआ। अंत को उसे एक युक्ति सूझ

पड़ी—जिससे उसके मुख पर मुसकराहट झलकने लगी। उसने एक टूटी तलवार जो पास ही पड़ी थी उठा ली और अपने शरीर से मास काट काट कर वह चील कौवोँ को खिलाने लगा जिससे वे पृथ्वीराज की देह को न छेड़ें। थोड़ी देर में पृथ्वीराज की मूर्छा भंग हुई और संयमराय को ऐसा करते देख वह मन ही मन उसकी सराहना करने लगे। परन्तु उनके शरीर में इतने घाव आये थे कि उनका शरीर निर्जीव सा हो रहा था। वह बहुत देर तक अपने स्वामिभक्त सेवक की सेवा न देख सके और फिर मूर्छित हो कर गिर पड़े। इतने में कवि चंद अन्य सैनिकों सहित अपने स्वामी को खोजते हुए वहाँ आ पहुँचे और संयमराय को ऐसा करते देख मुक्तकंठ से उसकी प्रशंसा करने लगे। परन्तु संयमराय अपने शरीर का सब मांस गिद्धों को खिला चुका था। कवि चंद तथा अन्य वैद्यों के सब प्रयत्न व्यर्थ थे। उसे कुछ भी चेत नहीं था। पर वह मांस काट कर चीलों को फेंकने की धुनि में मस्त था। अंत को वह अपने स्वामी के प्राण बचा कर स्वर्ग को चल बसा और अपनी अतुल कीर्ति से पृथ्वी को धवलित कर गया। उसने पृथ्वीराज की तथा कवि चन्द आदिकों की प्रशंसा पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। किसीके देखने सुनने और कहने से क्या? आत्मत्यागी लोग किसीके दिखलाने के लिए नाटक नहीं रचा करते हैं।

इस प्रकार आपस में लड़ कर दोनों ओर के वीर पुरुष अपने भाइयों को ही मार कर युद्ध में मारे गये। इस युद्ध से पृथ्वीराज की शक्ति खोखली पड़ गयी थी। इसीलिए जब

मुहम्मद गोरी से सामना पड़ा तब उसकी सेना में वे वीर लोग नहीं रहे थे जिनके द्वारा उसने इतनी ख्याति पायी थी। यदि ये सब लोग आपस में झगड़ा न करते तथा मेल रख कर मातृभूमि की भलाई की बातें सोचते और अपने देश-शत्रु तथा धर्म-शत्रुओं से ही लड़ते तो भारत के सैकड़ों पुस्तकालय क्यों जलते, क्यों सैकड़ों कतल आम होते, क्यों लाखों आर्य बलात् धर्मच्युत किये जाते, क्यों सैकड़ों धर्मस्थान नष्ट भ्रष्ट होते, क्यों लाखों अबलाएँ अपने सतीत्व धर्म की रक्षा के लिए जलती हुई अग्नि की प्रचंड ज्वाला में स्वाहा होतीं और क्यों उच्च कुल की सैकड़ों कामिनियों के साथ बलात्कार करके उन्हें कलंक-कालिमा से कलुषित किया जाता? परन्तु भारत को तो यह सब बातें देखनी थीं। द्वेष और फूट का तो यह स्वाभाविक फल ही है। इसमें किसका दोष है? ईश्वर करे इस फूट और द्वेष का हमारे भारतवर्ष में शीघ्र ही अंत होवे!

धार जहाँ पवाँर

दोहा

जहाँ धार पवाँर तहँ, जहँ पवाँर तहँ धार।
धार बिना पवाँर नहिँ, नहिँ पवाँर बिन धार ॥

'बूँदी जहाँ हाड़ा' की भाँति यह भी कहावत प्रसिद्ध है। भाटिओं के इतिहास से विदित होता है कि देवरावल का एक सेठ यशकरण नामक धारा नगरी में किसी कार्य्यवश गया। वहाँ के पवाँर-नरेश व्रजभानु ने उसे दोषी ठहरा कर बन्दी बना लिया और बहुत सा रुपया देने पर उसे मुक्त किया। राजा व्रजभानु के अन्याय की खबर सेठ यशकरण ने अपने प्रजावत्सल नरेश देवराज-भाटी से कही और अपने बदन पर मार पीट के निशान भी बतलाये। परदेश में अपनी प्रिय प्रजा के ऊपर ऐसा अन्याय होने की बात सुनते ही वीर देवराज क्रोध के मारे काँपने लगा। भला क्या वीर देवराज अपनी प्रजा की गुहार सुन कर भी चुप साध बैठ रहता और इस प्रकार अयश और नरक का भागी बनता, जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है —

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नर्क अधिकारी ॥

नोट—ऐसी ही एक घटना चित्तौर में होने का उल्लेख है। वह भी आगे लिखी गयी है। टाड साहब ने दोनों को सच माना है और अपनी 'राजस्थान' नामक पुस्तक में दोनों का उल्लेख किया है।

परदेश में इस तरह अपनी प्रजा का अपमानित होना उससे सहा न गया। उसने क्रोध में आकर बिना सोचे विचारे ही प्रतिज्ञा कर ली कि "जब तक धार के राजा से इसका बदला न ले लूंगा पानी नहीं पिऊँगा।" परन्तु यह प्रतिज्ञा बहुत कठिन थी क्योंकि धार वहाँ से लगभग पाँच सौ मील की दूरी पर था। सेना एकत्रित करके वहाँ तक जाना और युद्ध करके उससे बदला चुकाना कुछ पहर दो पहर का तो काम था ही नहीं जो बिना पानी पिये काम चल जाता। इससे राज्य के सच्चे और शुभेच्छुक मंत्रियों को बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने सोचा कि धार का विजय करना तो एक ओर रहा, पर राजा के प्राण तो पहली मंजिल पर बिना पानी ही के निकल जायँगे। इसलिए उन्होंने नीचा ऊँचा दिखला कर राजा को इस बात पर राजी किया कि "अब तो मिट्टी की एक नकली धार बनवा कर और उसमें अपने किसी अधीन पवाँर को रख कर धार विजय का शकुन मना अपने प्राणों की रक्षा की जावे और फिर असली धार पर चढ़ाई करके वहाँ के राजा को उचित दण्ड देवें।"

अस्तु नकली धार बनवायी गयी, परन्तु जब देवराज के सेवक पवाँरों ने सुना कि इस प्रकार उनकी जाति को अपमानित करने का षड्यंत्र रचा गया है, उनके हृदय में जाति और स्वदेशाभिमान जाग्रत हो आया। तेजसी और सारंग नामक दो देशभक्तों ने सब पवाँरों को एकत्रित करके ओजस्विनी वक्तृता में उनसे कहा, "हे वीर भाइयो! क्या आप लोगों को मालूम है कि भाटी लोग हमको जीवित ही मुर्दा समझकर हमारी जाति और जन्म-भूमि का उपहास करने

को उद्यत हुए हैं। यदि हम अपनी 'स्वर्गादपि गरीयसी' जन्म-भूमि की रक्षा करने में अपने प्राणों तक का लोभ करें तो हमको धिक्कार है। मनुष्य मात्र को एक वार मरना अवश्य है, फिर अपनी कीर्ति को संसार में छोड़ते हुए क्यों न प्राण त्याग करें? क्षत्रियों को युद्ध में मरने के सिवा और अच्छा सुअवसर कब मिलेगा? इस लिए, वीरो! अपनी मातृ-भूमि की रक्षा के लिए बद्ध-परिकर हो जाओ। अपमानित होकर जीने से तो उस मिट्टी की धार में जाकर मरना अच्छा है। इसलिए हम लोगों का अब यही कर्त्तव्य है। बस, यह कहना था कि जीवन का मोह छोड़ सबके सब स्वदेश तथा जाति के गौरव रखने के अर्थ तैयार हो गये और उस नकली धार के किले में जा धसे।

जब देवराज कुछ सैनिकों के साथ युद्ध के बाजे बजवाता उस नकली धार के पास पहुँचा तो उसने स्वजाति-अभिमानी पवाँरों को लड़ने मरने तक को उद्यत पाया। ऐसा देखकर वह उनसे कहने लगा कि "तुम्हारा स्वजाति-प्रेम सर्वदा सराहनीय है, पर तुम इस प्रकार प्राण क्यों देते हो?" वे बोले, "महाराज! इस प्रकार हमारी जाति को अपमानित करके आप हमें जीवित ही मारना चाहते हैं। आप धार फतह कीजिए, हम भी पवाँर हैं। भला हम क्षत्रिय होकर अपने आँखों से ऐसा कब देख सकते हैं? धार हमारी माता है और साधारण मनुष्य भी अपनी माता की रक्षा करता है, परन्तु, महाराज, हमने तो पवित्र क्षत्रिय वंश में जन्म लिया है, फिर कैसे अपनी माता की दुर्गति होते देखें?"

देवराज का प्यास के मारे बुरा हाल था। निदान हल्ला किया गया और थोड़ी देर तक घोर घमसान युद्ध होता रहा। अन्त को स्वदेशभक्त वीर तेजसी और सारंग अपने १२० पवाँर भाइयों सहित वीरता से लड़ते हुए वीरगति को गये। स्वयं देवराज ने उनकी वीरता और जन्मभूमि के प्रेम की मुक्तकंठ से प्रशंसा की और उनके कुटुम्बवालों के खान पान का उचित प्रबन्ध करके अपनी उदारता का अच्छा परिचय दिया।

इस प्रकार अपनी प्रतिज्ञा का पालन कर देवराज ने असली धार पर धावा किया। उधर व्रजभानु भी १२० पवाँरों की वीरता के विषय में सुन चुका था। तुरन्त युद्ध की सामग्री से तैयार हो गया और पाँच दिन तक वीरता से अपने दुर्ग की रक्षा करता हुआ अपने ८०० वीरों सहित धराशायी हुआ। इस प्रकार देवराज ने अपना बदला चुकाया। परन्तु तेजसी और सारंग के नाम धार के इतिहास में चिरकाल तक प्रज्वलित रहेंगे।

हमीर

"भूमि भारत की सदा से सद्‌गुणों की खान है।
धर्म-रक्षा धर्म-निष्ठा ही यहाँ की बान है॥
दीन दुखियों पर दया करना यहाँ की शान है।
बस इसीसे आज तक सर्वत्र इसका मान है॥"

—कमलाकर

प्रसिद्ध गढ़ रणथम्भोर को कौन इतिहास-प्रेमी नहीं जानता है? किसने शरणागत-वत्सल वीरवर हमीरराव का नाम नहीं सुना है? सब इतिसाह-प्रेमिओं को मालूम है कि वीर हमीर अलाउद्दीन जैसे प्रबल शत्रु से कैसी वीरता से लड़ा था। अला-उद्दीन जैसे उद्दण्ड बादशाह को भी एक वार उसके सामने से भागना पड़ा था। परन्तु हमीरराव के राजलोभी दीवानों की अज्ञानता तथा अकृतज्ञता से रणथम्भोर जैसे अजय दुर्ग पर मुसलमानों का झण्डा फहराया।

अलाउद्दीन बादशाह के मैहमाशाह नामक एक दरबारी से एक घोर अपराध बन पड़ा। बादशाह ने इस अपराध की खबर पाते ही उसे प्राणदण्ड की आज्ञा दे दी। मैहमाशाह को इस कठोर आज्ञा की सूचना पहले मिल चुकी थी। इस लिए उसने भाग कर शरणागत-वत्सल वीर हमीर की शरण ली।

यह सुन कर बादशाह ने हमीर को कहला भेजा कि "मैं ने सुना है कि तुमने मैहमाशाह को शरण दी है। क्या तुमको मालूम न था कि वह शाही अपराधी है? अथवा क्या तुमको मेरा प्रताप विदित नहीं है जो ऐसी धृष्टता की है? क्यों व्यर्थ पतंगे की भाँति सकुटुम्ब प्राण देने को उद्यत हुए हो? इसलिए मैहमा को मेरे पास भेज कर क्षमाप्रार्थी बनो, नहीं तो मैं शीघ्र ही आकर तुम्हारी इस उद्दण्डता का उचित दण्ड दूँगा।"

दूत द्वारा बादशाह के इस सन्देसे को सुनते ही वीर हमीर के नेत्र क्रोध से लाल हो गये, ओष्ठ फड़कने लगे और वह कड़क कर दूत से बोले—"बादशाह से कह देना कि हमीर ऐसी धमकियों से डरनेवाला नहीं। मैं ने उसी वंश में जन्म लिया है कि जिसके एक नरेश ने शहाबुद्दीन गोरी को सात बार हराया और उसे सात बार ही सही सलामत छोड़ कर अपनी वीरता तथा उदारता का परिचय दिया था। क्या मैं राजपूत होकर एक शरण आये हुए मनुष्य को पकड़वा दूँ? नहीं, कभी नहीं! सूर्य पश्चिम में निकल सकता है, हिमालय फूंक से उड़ सकता है और समुद्र अपनी मर्यादा को भी लाँघ सकता है, परन्तु हमीर स्वप्न में भी एक शरणागत मनुष्य को नहीं त्याग सकता। जब तक धड़ पर मस्तक है, जब तक हाथ में कृपाण है, तब तक यदि सारे संसार भर की शक्तियाँ भी मिल कर लड़ँ तो भी मैहमा को नहीं ले सकतीं, तेरी तो क्या हकीकत है!"

अपने दूत के मुख से हमीर के वाक्य सुन कर बादशाह की कोपाग्नि और भी प्रज्वलित हो गयी। तुरन्त ही उसने

एक बड़ी सेना तैयार होने की आज्ञा दे दी। सेना तैयार होकर रणथम्भोर प्रति चल दी। स्वयं बादशाह भी अपनी फौज के साथ था। कहते हैं कि लगभग दस मील तक फौज की छावनी पड़ी थी। इस सेना ने दुर्ग को घेर लिया। पर अपने दुर्ग को इस प्रकार घिरा देख तथा इतनी बड़ी फौज को देख कर भी निर्भय वीर हमीर का कलेजा ज़रा भी नहीं दहला, वरन् दुर्ग के ऊपर से बादशाह की विस्तृत फौज को देख कर वह बोले कि 'बादशाह तो एक सौदागर सा मालूम पड़ता है।'

बादशाह ने समझा था कि इतनी बड़ी सेना देख कर हमीर भयभीत हो गया होगा। ऐसा सोच कर उसने फिर एक बार अपने अपराधी को माँगा। परन्तु उसको वही निर्भीति उत्तर मिला।

मैहमासाह भी बड़ा वीर पुरुष था। वह तीर चलाने में अद्वितीय वीर था। उसके विषय में ऐसा कहा जाता है कि युद्ध आरम्भ होने के दिन की पहली रात्रि को किले के ऊपर खुली छत पर हमीर का दर्बार लगा हुआ था। सब राजपूत आनन्द मना रहे थे, कल युद्ध होने वाला है इसकी किसीको कुछ भी परवा नहीं थी। एक वीर राजपूत के लिए इससे बढ़ कर आनन्द की बात और क्या हो सकती है? उनके शास्त्र में तो लिखा है कि क्षत्रिय को युद्ध में मरने से स्वर्ग मिलता है, फिर भला लड़ाई में मरने से कौन डरेगा? हमीर का ऐसा निर्भय बर्ताव देख कर अलाउद्दीन जैसे वीर मनुष्य का भी कलेजा दहल गया, उसके मुख पर निराशा के चिन्ह

दृष्टिगोचर होने लगे। यह देख कर मैहमा का भाई मीर गावरू जो कि बादशाह की फौज में था, बोला—"आप इतने निराश क्यों होते हैं? मैं अभी हमीर के रंग को भंग किये देता हूँ"। ऐसा कह कर उसने एक थोथा तीर पातुर की एड़ी पर मारा जिससे वह बेचारी धड़ाम से गिर पड़ी। यह देखकर हमीर के मन में कुछ शंका हुई, परन्तु मैहमा ने आगे बढ़कर कहा, "महाराज, यह काम मेरे भाई का है, क्योंकि वह भी तीर चलाने में मेरे ही बराबर है। यदि आप आज्ञा दें तो मैं भी अपनी तीरन्दाजी दिखलाऊँ।" बस, हमीर की आज्ञा पाकर मैहमा ने तीर मारा जिससे बादशाह की टोपी उड़ कर अलग जा पड़ी। यह देख कर शाह की फौज में हल चल मच गयी।

प्रातःकाल ही वीर राजपूत प्रातःक्रिया से निवृत्त होकर युद्ध-भूमि पर जा डटे। छान के दर्रे पर हमीर के काका रणधीर नायक ने घोर युद्ध किया। यह युद्ध बड़ा ही लोम-हर्षण हुआ। दोनों ओर के बड़े बड़े वीर योधा काम आये। पृथ्वीराज के प्रसिद्ध सामन्त काका कान्ह की उपमा रणधीर को दी जाती है। कहावत है कि 'जो काका कनवज करी सो छानि करी रणधीर।" कहते हैं कि रणधीर पाँच वर्ष लड़कर वीर गति को प्राप्त हुआ।

अब छानि के दर्रे को विजय करके बादशाह की फौज किले की ओर बढ़ी। वहाँ भी बहुत दिनों तक घोर घमसान होता रहा। बादशाह ने किला विजय करने के प्रत्येक उपाय किये, परन्तु स्वदेश और स्वजाति-प्रेमी वीर राजपूतों के सामने उसकी एक पेच न चली।

अन्त में विश्वासघाती अकृतज्ञ दुष्ट सुरजन नामक हमीर का दीवान (मन्त्री) राज्य के लोभ में आकर बादशाह से जा मिला और प्रतिज्ञा की कि मैं दुर्ग को फतह करवा दूँगा। वीर राजपूत अपनी विजय के लिए दिल तोड़कर लड़ रहे थे, उन्हें दुष्ट सुरजन की दुष्टता की कुछ भी खबर न थी। इस समय मन्त्री ने आकर हमीर से कहा, 'महाराज, दुर्ग की भोज्य सामिग्री समाप्त हो गयी—'जौंरा भौंरा' नामक खास खाली हो गये हैं। अब सामिग्री एकत्रित करना दुःसाध्य है। यह सुनते ही वीर हमीर के ऊपर वज्रपात सा हो गया, वह अवाक् रह गया, परन्तु सरल-हृदय हमीर उसकी दुष्टता न समझ सका।

रात्रि को एक दर्बार किया गया और सब सरदारों की राय पूछी गयी। किले में बन्द होकर भूखों मरना वीर-हृदय राजपूतों को कब पसन्द आ सकता था और अधीनता स्वीकार करना तो उनका गला घोटना था। सबने एकमति होकर जौहर करने की सम्मति दी। इस समय इस प्रकार हमीर को संकट में देख मैहमासाह बोला, "महाराज, आप चिन्ता न करिए, यह सब लड़ाई मेरे पीछे है। मुझे बादशाह के हवाले कर दीजिए।" यह सुनकर हमीर बोले, "यह कभी नहीं हो सकना कि मैं राजपूत और राजा होकर एक शरण आये हुए मनुष्य को वचन देकर पकड़वा दूँ। धिक्कार है मुझे और मेरी माता को यदि मैं ऐसा विचार भी करूँ। जब तक शरीर में प्राण हैं तब तक तुझे प्राणों से भी अधिक जानता हूँ।"

यह कह कर वीर हमीर महलों में चले गये और अपनी वीरपत्नी से बोले, "प्रिये! किले की भोज्य-सामिग्री समाप्त हो गयी। अब क्या करना चाहिए, मैहमा को पकड़वा कर अधीनता स्वीकार करूँ या किले से बाहर होकर युद्ध करूँ?"

यह सुनते ही रानी अपने पति को वीर वाक्यों से उत्साहित करती हुई बोली, "महाराज, क्या शरण आये हुए मनुष्य को आप पकड़ा देंगे? क्या आप पवित्र राजपूत-कुल में कलंक लगावेंगे? क्या आप वीर पुरुष होकर प्राणों के लोभ से राजपूतों के स्वाभाविक गुण शरणागत-वत्सलता को इस प्रकार तिलांजलि दे देंगे? कभी नहीं, महाराज! यह कभी विचार भी न करिए। हम लोग भी जल कर आपसे स्वर्ग में मिलेंगी। बस, अब सोच विचार का काम नहीं है।"

रानी के ऐसे वीर वाक्य सुन कर हमीर बोले, "मुझे तुम से ऐसी ही आशा थी"।

प्रातःकाल होते ही वीर राजपूत अन्तिम युद्ध के लिए सज्जित होने लगे। सब ने स्नान संध्यादि करके केसरिया वस्त्र धारण किये और मस्तक पर केसर का त्रिपुंड्र लगाया। हमीर को उनकी रानी ने स्वयं अपने हाथों से युद्ध के साजों से सज्जित किया। जिरहबख़्तर पहिराने बाद उसने पति की कमर में तलवार लटकायी और सब साजों से सज्जित करके उनकी आरती की। अब वह अपने पति का प्रेम भरी आँखों से अन्तिम दर्शन करने लगी। इतने में लड़ाई के नगाड़े का घन घोर शब्द सुन पड़ा। नगाड़े के शब्द की ध्वनि राजपूत

वीरोँ की विकट गर्जना से प्रतिध्वनित होने लगी। अब विलम्ब का समय न देख रानी से अन्तिम भेट कर और बादशाही सेना को किले की ओर बढ़ते देख 'जौहर करना' ऐसा उपदेश दे वह बहुत शीघ्र महलोँ से बाहर आये। उनके दृष्टिगोचर होते ही सेना ने विकट गर्जन करके 'हमीरराव की जय' ऐसा शब्द उच्चारण करके उनका स्वागत किया।

बस, अपनी सेना को शब्दोँ द्वारा उत्तेजित करके वे रण-भूमि मेँ जा डटे। दोनोँ सेनाओँ के आमने सामने होते ही घोर घमसान आरम्भ हो गया। वीर पुरुष अपने खड्गोँ को शत्रुओँ का रुधिर पान कराने लगे। वीर हमीर भी शाही सेना को मथन करने लगा। कई बार उसने बादशाह के हाथी की ओर रुख किया, परन्तु कृतकार्य न हो सका। परन्तु अन्त मेँ बादशाह का हठ टूट गया। राजपूतोँ की सच्ची वीरता के सामने मुसलमान लोग न ठहर सके। वे लोग धीरे धीरे पीछे हटने लगे। राजपूत और भी उत्साहित होकर बड़ी वीरता से लड़ने लगे। अब मुसलमान लोग उनके सामने न डट सके और बची हुई सेना के साथ बादशाह भाग निकला। शाही निशान बादशाह से हमीर के सैनिकोँ ने छीन लिये। आनन्द मेँ मग्न होते हुए जीते निशानोँ को सेना के आगे किये हमीर लौटे।

मुसलमानोँ के निशानोँ को दूर से आते देख किले के विश्वासपात्र सेवकोँ ने समझा कि बादशाह की विजय हुई। राजपूत रमणियोँ ने यह सुनते ही दुष्ट मुसलमानोँ से अपनी प्रतिष्ठा बचाने के लिए धधकती हुई अग्नि मेँ प्रवेश किया।

देखते देखते अनगिनत रूप-लावण्यमयी ललनाएँ जल कर राख की ढेर हो गयीं।

जब वीर हमीर ने किले के पास पहुँच कर यह हृदय-विदारक शोक-सम्वाद सुना जो कि उसके सैनिकों की असावधानी के कारण संघटित हुआ था, तो वह शोक से मूर्च्छित हो गया। जब मूर्च्छा भंग हुई तो दैव का ऐसा ही कर्तव्य समझ बोले, "अब ईश्वर की यही इच्छा है कि पवित्र भारत में मुसलमानों का राज्य हो। अब कुटुम्ब-रहित होकर संसार में रहने से तो मरना श्रेष्ठ है।" ऐसा कह कर अपने खड्ग से अपना मस्तक काट शिव जी को चढ़ा दिया।

सुरजन ने बादशाह को यह खबर दी जिसके सुनते ही वह लौट आया। राजपूतों ने अन्त तक उसका सामना किया। पर विना स्वामी के वे कब तक लड़ते? अन्त में बादशाह की विजय हुई और मनुष्य-रहित दुर्ग पर उसने अपना अधिकार जमाया। मैहमाशाह ने भी लड़ाई में वीरता से प्राण त्यागे। इस प्रकार गढ़ रणथम्भोर सदा के लिए शून्य हो गया।

परन्तु वीर हमीर ने अपने प्राण देकर भी शरणागत-वत्सलता का व्रत पाला और राजा शिवि की भाँति अपनी कीर्त्ति अटल कर गया। हमीर की दृढ़ता वर्णन करते हुए किसी ने कहा है—

> सिंह व्यसन सत्पुरुष वचन कदलि फरै इक बार।
> तिरिया तेल हमीर हठ चढ़ै न दूजी बार॥

आज तक यह दोहा बड़े ही आदर के साथ हमीर का नाम स्मरण कराता है।

ऐसे उदाहरण पवित्र भारतभूमि को छोड़ कर शायद ही कहीं दूसरे देश के इतिहास में मिलें! तभी तो इस गिरी हुई दशा में भी भारत ने गौरव से अपना सिर ऊँचा कर रक्खा है।

———

चित्तौड़ का प्रथम साका

तंत्रता मनुष्य मात्र को प्रिय है। कोई भी ऐसा मनुष्य नहीं जो अपनी स्वतंत्रता को अपनी इच्छा से खो देने को तैयार हो। परन्तु राजपूतों को इसका विशेष ख्याल था। वे स्वतंत्रता को अपने जीवन से भी अधिक प्रिय समझते थे। दुआबे की उपजाऊ भूमि को छोड़ कर स्वतंत्रता के प्यारे भक्त राजपूत अर्वली के विकट पर्वतस्थली में जा बसे। परन्तु समय के फेर से वे यहाँ भी स्वतंत्रता-पूर्वक न रहने पाये। थोड़े ही दिवस बाद अलाउद्दीन खिलजी ने अपनी वृहत् सेना की बाग राजपूताने की ओर मोड़ी। यह पहला ही बादशाह था जिसने पहले पहल राजपूताने पर चढ़ायी की थी।

भारतवर्ष के प्रसिद्ध दुर्गों को विजय करता एक एक करके भारत के प्रसिद्ध प्रसिद्ध राजाओं को अपने अधीन करता हुआ दिल्लीपति अलाउद्दीन चित्तौड़ की ओर झुका। उस समय चित्तौड़ के राजसिंहासन पर नाबालिग महाराज लक्ष्मण सुशोभित थे। राज-कार्य उनके काका भीमसिंह चलाते थे। इनका विवाह सिंहल देश के हमीर शंकु की परम रूप-लावण्यवती पुत्री पद्मावती से हुआ था। इसके रूप की ख्याति सारे संसार में फैली हुई थी। भीम-सिंह भी बड़ा विद्वान बुद्धिमान तथा साहसी वीर और राज्य-कार्य में कुशल था। इनके शासन-काल में चित्तौड़ में

अखंड शान्ति विराज रही थी। परन्तु इसी समय में चित्तौड़ के लिए एक नया युग उपस्थित हुआ। जिस प्रदेश पर कोई शत्रु दृष्टिपात करने का साहस नहीं कर सकता था, जिस दुर्ग को आज तक किसी जाति ने स्पर्श तक नहीं किया था, जो चित्तौड़-भूमि अब तक अखंड स्वाधीनता और स्वतंत्रता के भूषणों से सुसज्जित थी, उसी पवित्र भूमि को थोड़े दिनों के लिए पराधीनता की शृङ्खला में बँधना पड़ा। उसी अजय दुर्ग को दुष्ट अलाउद्दीन ने तोड़ फोड़ कर ध्वंस कर दिया।

इस पाप ग्रह का चक्र चितौड़ पर दो बार आया था। पहली बार तो स्वदेश-भक्त और स्वतंत्रता-प्रिय राजपूतों ने अपना रुधिर बहा कर और अपने प्रिय प्राणों की आहुति देकर इस पाप ग्रह को दूर किया था। परन्तु दूसरी बार असंख्य प्राणों की आहुति होने पर भी वे अपनी 'स्वर्गादपि गरीयसी' मातृभूमि की स्वाधीनता स्थिर न रख सके।

राजपूतों की वीरता धीरता और साहस को देख कर अलाउद्दीन जैसा उद्दण्ड बादशाह भी चकित हो गया और बिना लड़े हो दिल्ली लौट जाने को तैयार हो गया था। परन्तु इसी* अवसर पर किसीने भीमसिंह की पत्नी रूप-लावण्य-मयी यथा-नाम पद्मिनी की अपूर्व सुन्दरता की प्रशंसा उसके सामने की जिसके सुनते ही वह उस पर मोहित हो गया। तुरत ही दुर्ग

* इस विषय में ऐतिहासिक रीति से मतभेद है। अनेक इतिहास-मर्म्मज्ञों का मत है कि विषयी अलाउद्दीन पद्मावती के रूप की प्रशंसा दिल्ली में ही सुनकर उस पर मोहित हो गया और उसे बलपूर्वक हर लाने के लिए ही पहले पहल उसने चित्तौड़गढ़ को जा घेरा। —सम्पादक

का घेरा डालने की उसने आज्ञा दे दी। बस, फिर क्या था लड़ाई शुरू हो गयी। बहुत दिवस तक युद्ध होता रहा, परन्तु जब वीर क्षत्रियों के सामने उसे अपनी कुछ पेश चलती न देख पड़ी तो उसने राणा जी को सूचना दी कि पद्मिनी के मिलते ही हम दिल्ली को लौट जाँयगे। उसकी ऐसी गंदी सूचना को सुनते ही वीर राजपूत क्रोध से लाल हो गये। इस घृणित प्रस्ताव का भला कौन अनुमोदन कर सकता था? क्या वीर राजपूतों की नसों में पवित्र आर्य रक्त प्रवाहित नहीं हो रहा था जो वे ऐसे गंदे प्रस्ताव को स्वीकार करते? जब अलाउद्दीन ने देखा कि इस प्रस्ताव ने तो उनको और भी भड़का दिया है तब अंत में उसने कहा कि यदि दर्पण में भी पद्मिनी का दर्शन मुझे करा दिया जाय तो मैं लौट जाऊँगा। चित्तौड़ के वीर राजपूत और उनके नायक भीमसी का क्रोध इस प्रस्ताव पर भी शान्त नहीं हुआ। किन्तु पद्मावती ने देखा कि मान और प्रतिष्ठा की कल्पनामात्र पर और एक हानिरहित प्रस्ताव के पूरे न होने के कारण हजारों वीर दोनों ओर धराशायी होंगे, सैकड़ों सूरमा खेत रहेंगे और फिर भी इसका निश्चय नहीं कि जीत किसकी होगी। रानी के सहज कोमल और दयार्द्र चित्त से इस तरह अनेक मनुष्यों का प्राणनाश देखा न गया। इस बार उसने राना से विनय किया कि अलाउद्दीन यदि मेरा रूप दर्पण में देख कर घर लौट जाय तो युद्ध में जो प्राणियों का नाश होता है वह तो न होगा वरन सदा के झगड़े मिट जायँगे। कोरी कल्पना पर वीरों के अमूल्य प्राण नष्ट करने उचित नहीं जान पड़ते। रानी के इतना कहने पर अन्त को भीमसिंह ने

इस प्रस्ताव को अपनी प्रजा को कष्ट से बचाने के लिए स्वीकार कर लिया।

यह जगत-प्रसिद्ध बात है कि राजपूत झूठे तथा विश्वासघाती नहीं होते। अलाउद्दीन को भी यह भली भाँति विदित था। इस लिए वह अपने थोड़े से साथियों को लिये चित्तौड़-दुर्ग में निर्भयता से चला गया और पद्मिनी की छाया दर्पण में देख कर लौटा। उदार-हृदय राजपूतों ने उसको अतिथि जान उचित सत्कार किया और लौटते समय भीमसिंह बाहर तक उसे पहुँचाने गया। मार्ग में अलाउद्दीन अपनी भूल की क्षमा माँगने लगा और इधर उधर की बातों में लगा कर उसे दूर तक लिवा ले गया। इतने ही में एक गुप्त स्थान से कुछ शस्त्रधारी मुसलमान अकेले भीमसिंह के ऊपर टूट पड़े और उसको बंदी बना कर अपने शिविर में ले गये। हाय! सच्चे और विश्वास-पात्र राजपूत वीर भीमसिंह की उदारता और अतिथि-सत्कार का बदला विश्वासघाती दुष्ट अलाउद्दीन ने इस प्रकार चुकाया! शिविर में पहुँचते ही उसने कहला भेजा कि "यदि पद्मिनी मिले तो मैं भीमसिंह को छोड़ दूँ, नहीं तो नहीं छोड़ूँगा।"

अलाउद्दीन की इस धूर्तता का संवाद सारे नगर में फैल गया। सब के सब बड़े दुखित हुए। सब सरदार भीमसिंह के छुटकारे का उपाय सोचने लगे। जब यह खबर पद्मिनी को मिली तो उसने अपने काका गोरासिंह और अपने चचेरे भाई बादल को बुला कर अपने पति के छुटकारे का उपाय पूँछा। बुद्धिमान गोरा ने उचित उपाय बतलाया।

अन्य सरदारों ने भी इस गुप्त प्रस्ताव का अनुमोदन किया। अब यह बात प्रकाशित कर दी गयी कि पद्मिनी भीमसिंह के छुटकारे के लिए स्वयं बादशाह के पास जाने को तैयार है। इस खबर को सुन कर चित्तौड़-निवासी आश्चर्य के साथ आपस में कहने लगे, क्या पद्मिनी अपने पातिव्रत धर्म को इस प्रकार नष्ट करेगी? हाय, क्या सीसोदिया अपने कुल-प्रतिष्ठा को इस प्रकार खो बैठेंगे?

सरदारों ने परस्पर सलाह करके इस बात की सूचना अलाउद्दीन को दी कि "पद्मिनी तुम्हारे पास आने को तैयार है, राजवंश रीति के अनुसार उसके साथ उसकी संग की सहेलियाँ भी पहुँचाने को दिल्ली तक जाँयगी। परन्तु राजपूतानियों में किसीको मुख दिखलाने की प्रथा नहीं है, इस लिए परदे का पूरा सामान रहे, आपका कोई भी सरदार डोलियों के पास न जाने पावे। यदि आपको यह शर्तें स्वीकार हैं तो पद्मिनी आने को तैयार है।" अलाउद्दीन तो पद्मिनी के लिए बावला हो रहा था, तुरन्त सब शर्तें स्वीकार कर लीं। उसने कुछ भी सोच विचार नहीं किया कि भला जो राजपूत-रमणियाँ अपने पवित्र सतीत्व की रक्षा के लिए अपने हाथ से अपने कलेजे में कटार मार कर प्राण दे सकती हैं, प्रसन्नता-पूर्वक जलती हुई आग में भस्म हो सकती हैं, कैसे इस नीच और घृणित प्रस्ताव को स्वीकार करेंगी? सचमुच विषय कामना अंधी है। कोई कैसा ही विद्वान बुद्धिमान और चतुर क्यों न हो भगवान कुसुमायुध के पुष्पवाण की चोट लगते ही उसकी सब विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता और चतुराई जर्जरित और नष्ट हो जाती है, वह बालकों की

भाँति चेष्टा करने लगता है। विषयासक्ति मनुष्य को पागल बना देती है।

बादशाह के शिविर में पद्मिनी के जाने का निश्चित समय आ गया। सात सौ डोलियाँ तैयार होकर एक के पीछे एक बादशाह के पड़ाव की ओर चलीं। छः छः वीर राजपूत कहारों का बनावटी वेश बनाये एक एक पालकी को कन्धों पर लिये हुए थे और प्रत्येक डोली में एक एक वीर साहसी राजपूत चुपचाप बैठा हुआ था। उसीके पास उन छः कहार वेशधारी राजपूतों के रक्त के प्यासे अस्त्र शस्त्र सुसज्जित धरे हुए थे। पालकियों पर विधि पूर्वक परदे पड़े हुए थे।

थोड़ी ही देर में सात सौ पालकियाँ पड़ाव पर पहुँची। बादशाह के कामी चित्त में इधर आनन्द का कोलाहल मच रहा था। मन में बाँसों उछल रहा था। अपने शिविर के द्वार पर आकर रानी का स्वागत करना चाहता था, परन्तु रानी की पालकी खड़ी हुई। उसने बादशाह से विनय और बनावटी प्रेम पूर्वक कहा कि अब तो मैं आपकी ही हूँ परन्तु आपके हरम में प्रवेश करने के पहले राना भीमसी से भी विदा हो लेना चाहती हूँ। मूर्ख अलाउद्दीन आप विश्वासघात करते हुए भी राजपूतों की सचाई पर विश्वास करता था और इस समय तो कामांध हो रहा था। हर्ष-पूर्वक आज्ञा दी कि अच्छा, आध घंटे में भीमसिंह से विदा होकर आओ। इस पर पालकियाँ उस शिविर की ओर फिरीं जिधर भीमसी बन्दी थे। वह भी रानी की चाल को एकाएकी समझ न सके। वहाँ पहुँचते ही उनके सैनिक उन्हें तुरन्त ही एक पालकी में पद्मिनी सहित बैठा कुछ और पालकियों के

साथ बड़ी सावधानी से शिविर के बाहर निकाल ले गये। मार्ग में भीमसिंह और पद्मिनी के लिए दो शीघ्रगामी घोड़े तैयार थे। वे उन्हीं पर सवार हो दुर्ग में जा पहुँचे। इधर जब आध घंटे से कुछ ज्यादा हो गया तो अलाउद्दीन को ईर्षा उत्पन्न हुई। वह तुरन्त ही उस घेरे के पास पहुँचा। उसके पहुँचते ही डोलियों के पर्दे उलट और नंगी तलवारें खींच कर राजपूत वीर शत्रु-सेना पर टूट पड़े। बादशाह की फौज में खलबली मच गयी, परन्तु वे पहले से ही सचेत थे और जानते भी थे कि जैसा विश्वासघात राजपूतों के साथ किया है शायद वे भी उनके साथ वैसा ही बर्त्ताव करें। तुरन्त ही वहाँ घोर घमसान मच गया। कुछ सेना भीमसिंह की खोज में चित्तौड़ की ओर भेजी गयी। परन्तु भीमसिंह पहले ही दुर्ग में पहुँच गये थे। चित्तौड़ के दुर्ग-द्वार पर चित्तौड़ के वीर पुरुष लड़ने को उद्यत थे। बस, लड़ाई शुरू हो गयी। राजपूत लोग अपना रण-कौशल दिखलाते हुए शत्रुओं का संहार करने लगे। इस भीषण युद्ध में वीरवर गोरा और उसके भतीजे बादल ने अद्भुत वीरता प्रदर्शित की। वीर बादल की आयु उस समय केवल १२ वर्ष की थी। इन दोनों की वीरता, रण-कौशल और अद्भुत काट छाँट को देखकर दोनों दलों के वीरों को चकित होना पड़ा। अन्य राजपूत वीरों के साथ वीरवर गोरा भी वीरगति को प्राप्त हुआ। परन्तु अलाउद्दीन की सेना को इन लोगों ने मथन कर डाला। उसकी ज्यादा लड़ने की सामर्थ्य न रही। अलाउद्दीन की आशालता पर पाला पड़ गया। वीर बालक बादल कुछ थोड़े से बचे सैनिकों के साथ चित्तौड़ को लौटा।

गोरा की वीर-पत्नी ने अपने भतीजे बादल को लहू-लुहान और घायल अकेले आता देखा तो उसे पतिवियोग का बड़ा शोक हुआ। परन्तु 'मेरे पति ने अपने कर्त्तव्य को पालन करते हुए प्राण-विसर्जन किये हैं,' इस विचार ने उसे धैर्य्य दिया। बादल को अपने पास बुलाकर वह बोली, "बेटा बादल! तुम्हें ज्यादा कहने की कोई आवश्यकता नहीं। मैं केवल इतना पूँछती हूँ कि मेरे स्वामी ने किस प्रकार युद्ध में प्राण त्यागे। बस इतने ही से मुझे धैर्य्य होगा।" बादल की आँखों से आँसू गिरने लगे, परन्तु धैर्य्य धारण करके वह बोला, "मा, मेरे काका ने जो वीरता दिखलायी उसका मैं वर्णन नहीं कर सकता। अकेली ही उनकी तलवार ने बहुतों को धूल चटा दी। मैं तो केवल उनके पीछे पीछे घूमता था। वे बड़ी ही वीरता से धराशायी हुए। सच तो यह है कि उन्हींकी वीरता से सीसौदिया कुल के मान की रक्षा हुई। किसी का मृत शरीर तकिए की भाँति उनके शिर के नीचे पड़ा है, किसीकी लोथ बगल में, किसीको पैर के पास,—निदान असंख्य मरे हुए वीर उनकी चारों ओर रक्षकों की भाँति पड़े हैं।"

इतना सुन के गोरा की स्त्री फिर बोली, "बेटा बादल, मेरे पति की वीरता फिर से कहो।" बादल ने कहा, "माता, क्या कहूँ, शत्रु लोग स्वयं उनकी वीरता की प्रशंसा करते थे।" इसके बाद उस सती ने सब से बिदा माँगी और यह कहकर कि 'देर करने से स्वामी अप्रसन्न होंगे' प्रसन्नता पूर्वक चिता में प्रवेश करके प्राण त्याग किये।

इसी स्थान पर 'मेवाड़नी ज़ाहोज़लाली' का लेखक

लिखता है "शूर सतियो ! तुम्हारा जितना बखान किया जाय सब थोड़ा है"। ऐसे दृष्टान्तों से स्पष्ट विदित होता है कि उस समय की वीर राजपूतनियों को अपने अपने पतियों के साथ कैसा प्रबल प्रेम था। यूनान देश की स्पार्टन जाति की तथा कार्थेज (मिश्र) की फिनीशियन जाति की स्त्रियाँ भी इनके सामने किसी गणना में नहीं थीं, ऐसा कहें तो यह कुछ अत्युक्ति नहीं है।

थोड़े दिन बाद ही अलाउद्दीन ने पहली वार का बदला लेने की गरज से फिर चितौड़ पर चढ़ाई की। इस समय एक प्रकार से चित्तौड़ वीर-रहित था, क्योंकि बड़े बड़े वीर तो पहली ही लड़ाई में काम आ गये थे। तो भी चित्तौड़ को सहज ही में अधीन कर लेना कुछ आसान बात न थी। अलाउद्दीन के दूसरी वार आते ही वीर लोग पिछला वैर याद करके जोश में भर गये और वीरता-पूर्वक छः मास तक लड़ते रहे।

अब चित्तौड़ की रक्षा का कोई उपाय न देख पड़ा। राना जी के १२ पुत्रों में से केवल एक अजयसिंह नामक बच रहा, जिसको पितरों को पिंड देने वाला समझ और तुर्कों से भविष्य वैर लेने के लिए पास के ही पहाड़ी प्रदेश में भेज दिया। बस अब उन्हें केवल अपनी स्त्रियों का विचार रह गया कि उनके पीछे उनके धर्म पर कोई आघात न करे।

इसी विचार से उन्होंने केशरिया बाना धारण करने का विचार अपनी धर्म पत्नियों को जताया, वे भी अपने पतियों के साथ शस्त्र बाँध कर लड़ने के लिए उद्यत हो गयीं।

उन्होंने कहा कि हम को भी केशरिया वस्त्र पहन कर मुसलमानों को हमारे हाथ का स्वाद चखाने दो। वे भी जान लें कि ऐसी वीर स्त्रियों की कोख में जन्म लेने वाले पुरुष हमको कदापि सिर झुकाने वाले नहीं हैं। इससे वे फिर चित्तौड़ की ओर रुख करने का साहस भी न करेंगे। परन्तु यह प्रस्ताव स्वाभिमानी राजपूतों को न जचा। उन्होंने सोचा कि लड़ते लड़ते यदि एक भी जीवित स्त्री मुसलमानों के हाथ लग गयीं और कदाचित पद्मिनी ही पकड़ी गयी तो सब उद्योग निष्फल जायगा और बादशाह की इच्छा भी पूर्ण हो जायगी। अंत में यह हुआ कि वे स्त्रियाँ जलती हुई अग्नि में प्रवेश हो कर प्राण त्यागने को उद्यत हो गयीं।

बस फिर क्या था ज़मीन के अन्दर एक बड़ी सुरंग थी उसीमें चिता तैयार की गयी। अपने पति भाई पिता पुत्रादिकों से अंतिम भेंट करके चित्तौड़ की अनगिनत सुन्दरियाँ उसकी ओर बढ़ने लगी। जिसके लिए अलाउद्दीन ने इतना उपद्रव मचाया था वह रूप-लावण्य-मयी सौंदर्य-स्वर्ग की सुकुमारी सरोज-नयनी सती-साध्वी सुन्दरी पद्मिनी भी उनके साथ थी। एक एक करके वे उस सुरंग में उतरने लगीं। राजपूत लोग अपने हृदय का कठोर बनाये चुपचाप इस हृदय-विदारक दृश्य को देखते रहे। उनके नेत्रों में एक बूँद भी आँसू न आया। उनकी आँखें क्रोध से रक्त वर्ण हो रही थीं। अपनी माता, सहधर्मिणी, बहिनों और कन्याओं को इस प्रकार अग्नि में भस्म होते देख उनको अपने प्राणों का कुछ भी मोह न रहा। आज राजपूत वीर उन्मत्त हैं।

सिवाय लड़ने मारने और मरने के उन्हें कुछ नहीं सूझता है। आज वे अपनी प्रतिष्ठा और स्वतंत्रता के लिए मरने को तैयार हैं।

दुर्ग का फाटक खुला और नगी तलवारें हाथ में लिए 'जय एक लिङ्ग भगवान की जय' का गगन भेदी नाद करते हुए वे शत्रु सेना पर टूट पड़े। पहुँचते ही हजारों शत्रुओं को उन्होंने गाजर मूली की भाँति काट कर फेंक दिया। परन्तु उस समुद्र-रूपी शत्रु-सेना में वे थोड़े से वीर तरंग की भाँति विलीन हो गये।

बादशाह ने जन-शून्य चित्तौड़ दुर्ग पर अधिकार किया। पागलों की भाँति वह पद्मिनी को खोजने लगा। पर पद्मिनी अब कहाँ? वह तो जल कर एक मुट्ठी खाक बन गयी थी। अलाउद्दीन हाथ मलता रह गया। जिसके लिए उसने अपने लाखों वीरों का खून बहाया अन्त को वह उसके हाथ न लगी। जब कोई भी जीवित मनुष्य उसे न दीखा तो उसने महलों तथा देव मन्दिरों को तोड़ फोड़ कर अपने क्रोधाग्नि को शान्त किया।

हाड़ा-वीर कुम्भ*

"जहाँ हाड़ा वहीं बूँदी"

"मेरी जननी यही भूमि है' इस प्रकार से जिसका मन।
नहीं उमङ्गित हुआ, वृथा है उसका पृथ्वी पर जीवन॥"

गौ० द० बाजपेयी।

आज कल जन-समुदाय में 'जहाँ हाड़ा वहीं बूँदी' की कहावत प्रसिद्ध है। परन्तु थोड़े से इतिहास-प्रेमी ही इस बात को जानते होंगे कि यह कहावत हाड़ा-वीर कुम्भ के स्वदेश-प्रेम की घोषणा करती हुई हम लोगों को स्वदेश प्रेमी होने के लिए उत्साहित करती है। यह कहावत ही उस स्वदेश-भक्त वीर का स्मारक स्वरूप है।

प्रसिद्ध दुर्ग चित्तौड़ के नाम से कौन अपरिचित है। जिस चित्तौड़ की वीर-प्रसवनी भूमि ने भारत-मुखोज्वल-कारी प्रताप, चण्ड, जयमल और फत्ता आदिक जैसे स्वदेश-भक्त पैदा किये कि जिनके चरित्र से भारत का इतिहास दैदीप्यमान है, भला कौन ऐसा अभागा भारतवासी होगा जिसने उस पवित्र भूमि चित्तौड़ का नाम एकवार भी सादर स्मरण करके अपने को पवित्र न किया होगा। उसी चित्तौड़ की राजगद्दी को जिस समय महाराणा लाखा सुशोभित कर रहे

* श्रीयुत बाबू मैथिलीशरण जी की 'नकली किला' नामक कविता के आधार पर। —लेखक

थे यह घटना उसी समय की है। वीर कुम्भ उस समय राणा जी की सेना में किसी पद पर नियुक्त था।

एक बार किसी विशेष कारण से राणा ने क्रोध में आकर प्रण कर दिया कि बूंदी के दुर्ग को विजय किये बिना मैं अन्न जल ग्रहण नहीं करूँगा। इस कठोर प्रण का पालन होना अति दुष्कर था। इस लिए राणा जी के शुभचिन्तक अमात्य आदि बड़े चक्कर में पड़े। अन्त में कोई क्रिया सफल न होती देख उन्होंने एक उपाय सोचा और विनय पूर्वक राणा जी से निवेदन किया, "महाराज! आपने जो प्रण किया है वह सर्वथा वीर पुरुषों के योग्य है। वीर पुरुष अवमानित होकर कभी चुप नहीं बैठ सकते परन्तु उसका प्रतिशोध करते हैं। शत्रु को उसकी भूल का उचित दण्ड देकर उसका मदचूर्ण करना ही क्षत्रियों का धर्म है। हम लोग आप के भृत्य हैं इस लिए जो आज्ञा श्रीमान् देंगे हम लोग शिरोधार्य समझ के करेंगे। परन्तु, अन्नदाता जी हम लोग आप की हानि नहीं देख सकते। इस प्रण के पालन करने में बड़ी भारी हानि की सम्भावना है। इस लिए ही श्रीमान् से निवेदन करने का हम को साहस हुआ है। बूँदी का सुदृढ़ दुर्ग यहाँ से कुछ कम दूरी पर नहीं है। वहाँ की यात्रा में मार्ग ही में कई दिवस लग जायँगे। वहाँ पर पहुँच कर हम को घोर युद्ध करना पड़ेगा तब कहीं दुर्ग के विजय करने का सुअवसर हाथ लगेगा। महाराज, क्या तब तक भोजन बिना ही काम चल सकेगा? क्या दुर्ग के विजय करने में कुछ भी दिन न लगेंगे? क्या शत्रु लोग बिना लड़े ही वश हो जायँगे? क्या वे 'स्वर्गादपि गरीयसी' अपनी जन्म-भूमि की स्वतंत्रता के

लिए अपने प्राणों तक की आहुति न करगे ? महाराज, अपनी आँखों के सामने कौन अपना सर्वनाश होता हुआ देख सकता है ? इस लिए महाराज, हम लोगों ने एक उपाय सोचा है कि बूँदी का एक नकली किला यहीं पर बनवा कर और उसे विजय करके अन्न जल ग्रहण किया जाय। फिर एक बड़ी सेना लेकर बूँदी की ओर प्रस्थान करेंगे और शत्रुओं को उचित दण्ड दगे। इस प्रकार बिना किसी हानि के प्रण का पालन हो जायगा। भोजन बिना मनुष्य की देह रूपी गाड़ी कदापि नहीं चल सकती है। फिर आपके भोजन न करने का वृत्तान्त सुन के सैनिक लोग भी क्या अन्न-जल न छोड़ देंगे ? इससे एक बड़ा अनर्थ होने की सम्भावना है। इस लिए महाराज, बुद्धिमानी वही है जिसमें शरीर की रक्षा करते हुए कार्य का साधन हो सके।"

इस प्रकार महाराणा जी को समझा बुझा कर मंत्रियों ने नकली किले का ही तोड़ना निश्चय किया। अस्तु बूँदी का नकली किला शीघ्र ही बनवाया गया। राणा जी के प्रण पालने का इस प्रकार का सम्वाद सारे नगर में फैल गया और मनुष्य आश्चर्य करने लगे। उसी समय राणा जी का बूँदी निवासी भृत्य हाड़ा वंशोत्पन्न वीर कुम्भ एक मृग का शिकार करके लौट रहा था। मार्ग ही में उस नकली दुर्ग को देख कर उसके विषय में जानने की उसकी उत्कट इच्छा हुई। परन्तु सब हाल जान कर वह अत्यन्त विस्मित हुआ। उसके मुख पर गंभीरता के चिन्ह दृष्टिगोचर होने लगे, क्रोध से शरीर कापने और मूछें फड़कने लगीं और भृकुटी धनुषाकार हो गयी। अपनी मातृभूमि का इस प्रकार

तिरस्कार होते देख स्वदेशाभिमानी वीर कुम्भ की देह में कोपाग्नि धधकने लगी। मृत्यु की अपेक्षा मान को अधिक समझ वह दुर्ग की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो गया। मरे हुए मृग को वहीं पर रख कर वह प्रेम से देवी स्वरूपिनी अपनी मातृभूमि की स्तुति करने लगा। यद्यपि उसको उस समय अपने शरीर की कुछ भी खबर नहीं थी परन्तु भक्ति के कारण जो शब्द उसके मुख से सहसा निकल पड़े वे प्रत्येक स्वदेश-प्रेमी के हृदय पटल पर अंकित करने योग्य हैं। उसी समय का भाव बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी ओजस्विनी कविता में इस भाँति दर्शाया है—

"पुष्ट हो जिसके अलौकिक अन्न नीर समीर से।
मैं समर्थ हुआ सभी विधि रह निरोग शरीर से।
यदपि कृत्रिम रूप में वह मातृ-भूमि समक्ष है,
किन्तु लेना योग्य क्या इसका न मुझको पक्ष है॥"

"जन्मदात्री ! धात्रि ! तुझसे उऋण अब होना मुझे,
कौन मेरे प्राण रहते देख सकता है तुझे ?
मैं रहूं चाहे जहां हूं किन्तु तेरा ही सदा,
फिर भला कैसे न रक्खूं ध्यान तेरा सर्वदा॥"

इस प्रकार कहता हुआ वह वीररस में मत्त होकर वीरासन से बैठ उस दुर्ग की रक्षा करने लगा। उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो स्वदेशाभिमान मूर्तिमान होकर स्वदेश-भक्त का एक अनुपम उदाहरण दिखलाने के लिए ही प्रकट हुआ है।

जिस समय वीर कुम्भ सिंह के समान दुर्ग के द्वार पर बैठा हुआ अपनी जन्मभूमि से उऋण होने की प्रत्याशा कर रहा था उसी समय राणा जो कुछ सैनिकों के साथ में आते दिखलाई दिये। उनको आते देखकर वीर कुम्भ ने बड़ी धीरता से अपने धनुष पर बाण चढ़ा लिया। ज्यों ज्यों वे समीप आते गये त्यों त्यों वीर कुम्भ की कोपाग्नि धधकती गयी। उसके सारे बदन में पसीना आ गया। परन्तु वह अपने क्रोध को रोक कर बोला—

"सावधान यहां न आना दूर ही रहना वहीं,
देखना निज बाण मुझको छोड़ना न पड़े कहीं।
भृत्य होने से तुम्हारा मैं जताने को रहा,
अन्यथा कब का यहां शोणित न दिखलाता वहा॥"

"प्राण बेचे हैं तुम्हें बेचा न मैंने मान है,
धर्म के सम्बन्ध में नृप और रंक समान है।
अनुज भी अवहेलना करने तुम्हारी जो चले,
क्षोभ से तो क्या तुम्हारा उर न उस पर भी जले॥"

"योग्य क्या सीसोदियों को इस तरह प्रण पालना,
है भला क्या सत्य का संहार यों कर डालना।
सरल इससे तो यही थी साध लेनी साधना,
तोड़ लेते चित्त ही में दुर्ग बूँदी का बना॥"

"अन्त में फिर मैं यही कहता तुम्हें प्रभु जान के,
लौट जाओ तुम यहां से बात मेरी मान के।
अन्यथा फिर मैं न जानूं दोष मत देना मुझे,
प्राण नाशक बाण मेरे हैं विषम विष में बुझे॥"

कुम्भ के ऐसे वीर वाक्य सुन कर राणा जी आश्चर्यान्वित होकर सहसा खड़े रह गये। उस समय राणा जी के हृदय में ग्लानि, लज्जा और क्रोध आदि के भाव उत्पन्न हो रहे थे। परन्तु थोड़ी देर सोच कर वे बोले, "धन्य वीर कुम्भ, धन्य! तुम्हारी मातृभक्ति सर्वदा सराहनीय है। तुम्हारे विचार सर्वदा उच्च कोटि के हैं। परन्तु, हे वीर! मेरे ऊपर तुम्हारा यह दोषारोपण वृथा है, जबकि तुम स्वयं बूँदी के वीर यहाँ पर उपस्थित हो तो भला मेरा प्रण पालना झूठा कैसे है।"

राणा जी के ऐसे वाक्य सुनकर वीर कुम्भ चुप हो गया और राणा जी पर बाण प्रहार किया, परन्तु राणा जी ने उस बाण को अपनी ढाल पर रोक लिया। बस फिर थोड़ी देर के लिए वहाँ पर एक छोटी सी लड़ाई मच गयी। मरते मरते उस वीर ने कई शत्रुओं को धराशायी कर दिया।

इस प्रकार अपने कर्त्तव्य का पालन करता हुआ वह वीर स्वर्ग को सिधारा परन्तु अपने देश भाइयों के लिए स्वदेशभक्त का एक अनुपम उदाहरण छोड़ गया।

चूड़ा जी

वाड़ाधिपति वृद्ध लाखा जी एक दिन अपने सरदारों और सामंतों के साथ दरबार में बैठे थे। चित्तौड़ के राजचिह्न उनकी शोभा को बढ़ा रहे थे। भाट और चारण लोग उनकी वीरता बखान रहे थे। सरदार लोग विविध विषयों पर वार्तालाप कर रहे थे। इस समय राणा जी के ज्येष्ठ पुत्र चूड़ा जी दर्बार में उपस्थित न थे। वह किसी काम से बाहर गये हुए थे। इसी समय राठौर राज मंडोर से एक पुरोहित राव रणमल्ल की राजकुमारी का सम्बन्ध राणा जी के ज्येष्ठ पुत्र चूड़ा जी से करने को श्रीफल लाया था। कुशल प्रश्न के बाद राणा जी ने उसके आगमन का कारण पूछा। उसने उत्तर में कहा, "महाराज! मैं राजकुमारी मंडोर के सम्बन्ध का नारियल लाया हूँ।" राणा जी हँसी से अपनी डाढ़ी पर हाथ फेरते हुए बोले कि मेरे जैसे वृद्ध के लिए यह नारियल कैसा। चूड़ा जी अभी आते हैं वह इस विषय में अपनी सम्मति प्रकट करेंगे। राणा जी की यह महीन हँसी सुन कर सभा में कह-कहा मच गया। इतने में चूड़ा जी ने आकर सब वृत्तान्त सुना। एक क्षण भर के लिए भी पिता ने जिस सम्बन्ध को हँसी में भी अपना कहा, पुत्र उसको कैसे स्वीकार कर सकता है। थोड़ी देर तक चूड़ा जी यही विचारते रहे, अन्त को उन्होंने कह दिया कि मैं इस सम्बन्ध को स्वीकार नहीं कर सकता। राणा जी ने चूड़ा जी को

ऐसा विचार जान कर उनको बहुत समझाया परन्तु दृढ़-प्रतिज्ञ वीर चंड (चूड़ा जी) अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहे। राणा जी यह देख कर बहुत अप्रसन्न होकर बोले, "बहुत अच्छा म ही इस सम्बंध को स्वीकार करता हूँ परन्तु स्मरण रहे कि यदि संयोगवश इस कन्या के गर्भ से कोई पुत्र उत्पन्न हुआ तो वही राज्य का उत्तराधिकारी होगा। तुम को गद्दी नहीं मिलेगी। इस लिए शपथ खाओ कि तुम उसके अधीन एक सरदार होकर रहोगे।" इस कठोर आज्ञा के सुनने से वीर चूड़ा जी ज़रा भी विचिलित नहीं हुए। अचल, अटल, स्थिर और गंभीर भाव से खड़े होकर बोले, "पिता जी ! मैं भगवान एकलिङ्ग के नाम पर शपथ खाकर कहता हूँ कि ऐसा होने पर मैं स्वयं उत्तराधिकारी का स्वत्व छोड़ दूँगा। और एक सरदार रह कर प्यारे भाई तथा राज्य की शत्रुओं से यथाशक्ति रक्षा करता रहूँगा।"

'होनहार को कौन मिटा सकता है'। राणा जी का विवाह हुआ और थोड़े ही दिवस में उनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ उसका नाम मोकल रक्खा गया। जब कि मोकल पाँच वर्ष का हुआ तो राणा जी को चिन्ता हुई कि मेरे पीछे चंड अपनी प्रतिज्ञा को निवाहेगा वा नहीं। इस लिए उनने अपने सामने उसे गद्दी पर बिठाने का विचार किया। इसी समय मुसलमानों ने गया के पवित्र तीर्थ स्थान में उपद्रव मचा रक्खा था। यह खबर जब राणा जी को मिली तो वे अत्यंत दुःखी हुए और दुष्टों को दंड देने के लिए युद्ध यात्रा की तैयारी करने लगे। सब ठीक ठाक करके वे चूड़ा जी से बिना यह कहे कि चित्तौड़का उत्तराधिकारी कौन होगा।

बोले, "मैं तो युद्ध में जाता हूँ और आशा नहीं कि मैं लौट कर आऊँ, मैं वृद्ध भी हो गया हूँ इस लिए पवित्र-स्थान गया जी में लड़ कर मरूँ तो इससे अच्छा और क्या होगा। अब सवाल यह है कि मोकल को क्या जीविका देनी चाहिए, उसे कौनसी जागीर देनी चाहिये।" उदार हृदय और दृढ़-प्रतिज्ञ चंड ने स्थिर भाव से उत्तर दिया कि "चितौड़ का राज सिंहासन" राणा जी का संदेह तो भी दूर न हुआ। चूड़ा जी की आज्ञा से तुरंत ही अभिषेक की तैयारी की गयी। सब सामिग्री दुरस्त होने पर खास दर्बार में चूड़ाजी ने अपने छोटे भाई मोकल को बुला कर और अपने हाथों से उसे उठा कर गद्दी पर बिठा दिया और अपने हाथ से राज तिलक करके सब से पहले उसके चरणों में नमस्कार किया। फिर अपने पिता की ओर देख कर बोले, "पिता जी! अब मुझे जागीर दें वा न दें मुझे इसकी ज़रा भी पर्वा नहीं। यदि आप जागीर देंगे तो यहाँ पर रह कर अपने भाई तथा राज्य की रक्षा और सेवा करता रहूँगा। यदि नहीं तो एक घोड़ा, भाला और ढाल तलवार बहुत हैं, राजपूत को और क्या चाहिये।" वीर चूड़ा जी के ऐसे वीर वाक्य सुन कर राणा जी अत्यंत संतुष्ट हो कर बोले, "धन्य पुत्र, तुम सीसोदिया कुल के भूषण हो।" उसी समय चूड़ाजी अव्वल दर्जे के सरदार बनाये गये और उनको सलूम्ब्रा की जागीर देकर उन्हें राज-मंत्री की उपाधि से विभूषित किया गया। उनके लिए यह भी नियम कर दिया कि जब जो राणा गद्दी पर बैठे वह चूड़ा जी के वंशज के हाथ से अभिषिक्त हो और जब कभी किसी को जागीर दी जावे या और कोई आज्ञापत्र दिया जाय तो राणा जी के हस्ताक्षर

के ऊपर वीर चूड़ा जी का खड्ग-चिह्न बना रहे। यह प्रथा उदयपुर में अब तक प्रचलित है।

राणा जी ने गया को प्रस्थान किया और मुसलमानों से धर्म-रक्षा के लिए लड़ कर स्वर्ग प्राप्त किया।

इधर वीर चूड़ा जी राज्य कार्य बड़ी बुद्धिमत्ता से चलाने लगे। राज्य में सब स्थान पर शान्ति विराज रही थी। चोरी डाँके का नाम कहीं सुनने में भी नहीं आता था। सब प्रजा उनसे सन्तुष्ट थी। परन्तु रानी राठौरनी जी के भाई जोधा जी चाहते थे कि चित्तौड़ पर हम अपना अधिकार जमावें और अवसर मिलने पर कुछ राज्य दबा बैठें। इस विचार ने उनके हृदय में जोर पकड़ा। उन्होंने एक ऐसा षट्यंत्र रचा जिससे चूड़ा जी को चित्तौड़ छोड़ चला जाना पड़े। जोधा जी अपनी बहिन से मिलने के मिस चित्तौड़ आये और बहुत कुछ कह सुन कर राजमाता को चूड़ा जी के विरुद्ध उभाड़ा और कहा, "चूड़ा जी प्रजा प्रिय हुए जाते हैं। जब मोकल राज्य कार्य की लगाम अपने हाथ में लेना चाहेगा तभी वे उसे मार डालेंगे और आप राजा बन जावेंगे। हम तो तुम्हारे ही भले की कहते हैं। आगे आपके जी में आवे सो करो। हमसे आपका अनिष्ट होता नहीं देखा जाता, इसलिए ऐसा कहा है।"

भोली भाली रानी उस दुष्ट के गूढ़ आशय को न समझ सकी। मीठी मीठी बातें सुन कर समझ लिया कि ये लोग मेरे बड़े शुभचिन्तक हैं और चूड़ा जी मेरे शत्रु हैं और राज्य छीनना चाहते हैं। उसने ऐसा विचार कर अपने भाई

के चले जाने बाद चूड़ा जी से द्वेष भाव कर उन्हें राज्य से बाहर निकालने का विचार किया। वह हर किसीसे कहने लगी, "यद्यपि चंड स्वयं अपने को राणा नहीं कहते परन्तु उनके व्यवहार से पता चलता है कि राणा केवल नाममात्र को ही है।" धीरे धीरे यह बात चूड़ा जी के कान तक पहुँची। उनको यह सुन कर बड़ा कष्ट हुआ। वह समझते थे कि जो वह कर रहे हैं वह अपने भाई मोकल और राज्य के लिए कर रहे हैं। ऐसी सरलता, उदारता और स्वार्थ-त्याग का ऐसा बदला! संसार तू बड़ा ही कृतघ्न है। चूड़ा जी ने समझा कि रानी को कुछ तकलीफ होगी इस लिए वह ऐसा कहती है। वे उनके पास गये परन्तु रानी के बर्ताव से उनके हृदय पर कड़ी चोट लगी। वे परदेश जाने को तैयार हो गये। सब तैयारी करके वे रानी से विदा माँगने गये। उन्होंने विदा माँगते समय रानी से कहा, "माता जी! शुद्धचित्त से कार्य करते हुए भी जहाँ पर शंका पैदा हो ऐसी जगह रहना ठीक नहीं इस लिए मैं जाता हूँ। राज्य का भार अब आपके हाथ है। देखिए, मेरे सीसौदिया भाईयों को मोकल के तुल्य समझना। देखना, इस पवित्र कुल की मान मर्यादा में कहीं अन्तर न पड़े। मैं जाता हूँ तो भी मोकल तथा राज्य के ऊपर कोई संकट पड़े तो मुझे याद करना। मैं अवश्य तन-मन-धन से आपकी सेवा में उपस्थित होऊँगा।" इस प्रकार कह कर राज माता के चरणों में नमस्कार करके वीर चूड़ा जी ने घोड़े पर सवार हो एक बगल में तलवार और दूसरी ओर ढाल लटका हाथ में भाला ले अपने दो

सौ वीर राजपूतों सहित चित्तौड़ भूमि को प्रणाम कर प्रस्थान किया।

क्या संसार में शुद्ध-हृदयता और आत्म-त्याग का यही बदला मिलता है! उदार-हृदय चूड़ा जी ने अपने स्वत्व को छोड़ कर अपने सौतेले भाई को राणा बनाया और आपने उसका दास होना स्वीकार किया। इस अपूर्व आत्म-त्याग का उनको क्या बदला मिला? उनको राज्य तथा देश छोड़ परदेश जाना पड़ा और क्रूर-हृदय राज माता ने उन्हें रोका तक नहीं वरन् आनन्दित हुई।

चूड़ा जी माँडू राज्य की ओर चले। उस समय उनके वीर चरित्र की सारे भारत वर्ष में धूम थी। माँडू का नर पति उनका आगमन सुनते ही उनको लिवाने के लिए मार्ग में आया। उसने उनका बड़ा सत्कार किया और हल्लर की जागीर देकर उनको एक बड़े दर्जे का सरदार बनाया। सच है वीर पुरुष का कहाँ आदर नहीं होता है।

चूड़ा जी का चित्तौड़ से जाना सुन कर रानी जी का भाई योधा जी मेवाड़ आया और राज्य कार्य चलाने लगा। थोड़े दिनों बाद राव रणमल भी मंडोर का राज्य-भार चम्पा जी को सौंप चित्तौड़ आये और अपने पुत्र की सहायता करने लगे। जोधा जी भी राज्य कार्य में कुशल थे, इस लिए थोड़े ही दिनों में उन्होंने अपनी बुद्धिमानी से मेवाड़ में राठौर ही राठौर भरदिये। सब बड़े और अच्छे कामों पर राठौर नियत कर दिये। राव रणमल तो अपने धेवते को गोद में लेकर राजगद्दी पर जा बैठता था। जोधा जी इस प्रकार कार्य

चलाने लगे कि जिससे मोकल बड़ा होकर भी उनसे राज्य भार न ले सके। लोभ क्या नहीं कराता तभी तो किसी विद्वान ने कहा है :—

मातरं पितरं चैव भ्रातरं वा सुहृत्तमम् ।
लोभाविष्टो नरो हंति स्वामिनं वा सहोदरम् ॥

राव रणमल अपने पंचवर्षीय नाती मोकल को गोद में लेकर सोसोदिया वंश के राज-सिंहासन पर बैठते थे और सब राजचिह्न चमर छत्र किरण आदि लगे रहते थे। जब कभी मोकल कहीं खेलने चला जाता था तो भी वह उसी गद्दी पर बैठा रहता था और चारों ओर राजचिह्न शोभा देते थे। बप्पा रावल के सिंहासन पर एक राठौर को बैठे देख सब के हृदय विदीर्ण होते थे परन्तु बेचारे कर क्या सकते थे। यह बात सीसोदिया वंश की एक वृद्धा धाय को बहुत बुरी लगी। "क्या बप्पा रावल के सिंहासन पर राठौर बैठेंगे।" इस विचार ने उसे विह्वल कर दिया। राजमाता के पास जाकर उसने कड़े शब्दों में उनसे कहा, "रानी जी! क्या आप जान कर अनजान बन रही हैं? क्या आप के पिता और भाई आपके पुत्र का राज्य छीन लेंगे? रानी जी अभी समय है नहीं तो पीछे पछताने के सिवाय कुछ भी न हो सकेगा।" धाय की इन बातों से राजमाता की आँखें खुलीं। वह अब राज्य के बचाव का उपाय सोचने लगी। इन्हीं दिनों उसे खबर मिली कि चूड़ा जी के भाई रघुदेव को जिनको केलबारा और करेरिया जागीर में मिले थे और जो बड़े वीर पुरुष थे और जो राठौरों के हृदय में काँटे की भाँति

खटकते थे, दुष्ट जोधा ने धोका देकर मरवा डाला। इन के मरने से सारे मेवाड़ में सनसनी फैल गयी। रानी यह खबर सुनते ही और भी घबड़ायी। उसने एक वार अपनी शंका अपने पिता पर प्रकट की। वह यह सुनते ही बोला कि तुम हमारे कार्य में हस्तक्षेप करने वाली कौन हो? यदि ज्यादा बक बक करोगी तो मोकल की जान से हाथ धो बैठोगी। रानी की शंका ठीक हुई। अब उसे कोई भी बचाव का उपाय न सूझा, कोई भी सीसौदिया वंश का उस समय उद्धार करने वाला नहीं दीखा। अन्त में उसे उदार हृदय और साहसी वीर चण्ड की याद आयी। उसने पश्चात्ताप करते हुए और क्षमा माँगते हुए इन सब बातों की सूचना चण्ड तक पहुँचायी और साथ ही साथ चलते समय जो उन्होंने वादा किया था उसकी याद दिलायी। चूड़ा जी को भी चित्तौड़ की सब बातों की खबर रोज पहुँचती थी और वे एक प्रकार चित्तौड़ की सहायता करने को उद्यत भी हो रहे थे।

यह सन्देशा सुनते ही चूड़ा जी ने रानी से चुपचाप कहला भेजा कि "मोकल जी को आस पास के गाँवों में कुछ विश्वासी दास दासियों के साथ भोजन बाँटने के लिए भेजा करो और एक ग्राम से दूसरे ग्राम में होते हुए दीपावली के दिन गोसुंडा ग्राम में अवश्य पहुँच जाना, भूलना नहीं, मैं वहीं मिलूँगा।" रानी को यह सम्वाद सुन कर धैर्य हुआ। और उसने बड़ी सावधानी से वैसा ही किया। दिवाली के दिन वह स्वयं मोकल जी को साथ लिये गोसुंडा पहुँची। दिन में वहाँ भोजन बाँटती रही और चूड़ा जी के आगमन

की प्रतीक्षा करती रही। यहाँ पर यह कहना ठीक होगा कि चूड़ा जी के साथ जो दो सौ सैनिक गये थे उनके बाल बच्चे सब चित्तौड़ ही में थे। रानी का संदेशा सुनते ही चूड़ा जी ने उनको चित्तौड़ भेज दिया और कह दिया कि वह पुलिस तथा द्वारपालों में नौकरी कर लें और उस नियत दिन पर सहायता के लिए प्रस्तुत रहें। उन्होंने वैसा ही किया। दिवाली के दिन कुछ तो उनमें से राणा जी के साथ थे और बाकी के सब दर्वाजे पर और किले में तैयार थे। चूड़ा जी को आने में कुछ देर हो गयी इस लिए रानी घबराती हुई निराश होकर चित्तौड़ की ओर लौट पड़ी। परन्तु पीछे से कुछ घोड़ों की टाप की आवाज़ मालूम होने लगी। थोड़ी ही देर में चूड़ा जी ने आकर प्रणाम किया।

चूड़ा जी सेना को पीछे आने का आदेश करके आप कुछ सवारों के साथ राणा जी के पीछे पीछे चलने लगे। बे-रोक टोक वे चित्तौड़ में प्रवेश कर गये। कुछ मनुष्यों को शंका हुई। उन्होंने पूँछा भी कि तुम कौन हो। चूड़ा जी ने उत्तर दिया कि हम आस पास के ग्राम के जागीरदार हैं। आज राणा जी को देर हो गयी इसलिए उन्हें पहुँचाने आये हैं। चूड़ा जी वेश बदले थे कोई भी उनको न पहचान सका। परन्तु जब पीछे की फौज भी आ पहुँची तब तो सब भेद खुल गया। शत्रुओं ने भी तलवारें खींच लीं। एक छोटी सी लड़ाई शुरू हो गयी। वीर चूड़ा जी अपनी तलवार से शत्रुओं को काटने लगे। चूड़ा जी का आगमन सुनते ही सब वीर सीसौदिया लड़ने को उद्यत हो गये। गली गली में

राठौरों के सिर धड़ से अलग होने लगे। स्त्रियाँ भी झरोकों में से ईंट पत्थर की वर्षा राठौरों पर करने लगीं। जिस समय यहाँ पर यह घमसान हो रहा था राव रणमल मदिरा और नशे में चूर महलों की एक दासी के गले में हाथ डाले पड़ा था। उसे कुछ भी सुध नहीं थी कि क्या हो रहा है। उस दासी ने उठ कर उसे उसकी लंबी मारवाड़ी पगड़ी से चारपाई पर जकड़ दिया। चूड़ा जी के साथी थोड़ी देर में उसे ढूढ़ते हुए वहाँ आ पहुँचे, परन्तु वह बे-सुध पड़ा था। जब हल्ला मचा तो उसकी निद्रा भंग हुई। अपने को इस अवस्था में देख कर उसे बड़ा क्रोध आया। उसने एक झटका दिया कि पगड़ी के टुकड़े टुकड़े हो गये और लड़ने के लिए उद्यत हो गया। परन्तु एक गोली उसके सिर में लगी जिससे उसका काम तमाम हो गया। जितने राठौर वहाँ पर थे सब मारे गये केवल जोधा जी थोड़े से मनुष्यों के साथ भाग गये। यह सुनते ही चूड़ा जी ने उनका पीछा किया और मंडोर पर अपना अधिकार कर लिया और बारह वर्ष उसे अपने अधीन रख कर राठौरों के चित्तौड़ अधीन करने का बदला चुकाया।

अब चूड़ा जी की कोई कार्य करना बाकी नहीं रहा। अपने भाई मोकल जी को उन्होंने शत्रु-रहित कर दिया।

ऊपर के वृत्तान्त से पता चलता है कि चूड़ा जी कैसे उदार हृदय, दृढ़ प्रतिज्ञ और साहसी थे। एक बार हँसी में अपने पिता के मुख से निकले वचन से उनने मंडोर की कुमारी कन्या से व्याह न किया और राजगद्दी छोड़ दास होकर

रहना स्वीकार किया। रानी की शंका पर देश छोड़ चले गये और फिर सहायता माँगने पर पिछली बातों का कुछ भी ध्यान न करके अपने देश और भाई के उद्धार के लिए तैयार हो गये और देश की रक्षा की।

ऐसे ऐसे उदाहरण देख कर भी भारतवासी उनसे कुछ नहीं सीखते। यदि आज किसीने क्रोध में आकर अथवा किसीके बहकाने से कुछ किसीसे कह दिया तो बस वह उसका जानी दुश्मन हो गया। उसको हानि पहुँचाने के लिए वह क्या क्या न करेगा यहाँ तक कि अपनी जाति तथा देश तक को हानि पहुचाता है। आजकल के लोगों के विषय में तो वही कहावत चरितार्थ होती है कि दूसरे के असगुन करने के लिए अपनी नाक तक कटवा डालते हैं। भारत का अब ईश्वर ही मालिक है।

पन्ना धाय

राणा साँगा मेवाड़ के प्रसिद्ध महाराणाओं में हो गये हैं। समर-विजयी मुगल-सम्राट बाबर से फतहपुर सीकरी के मैदान में इन्होंने आर्य जाति को गुलामी के फंदे से छुड़ाने के लिए घोर युद्ध किया। परन्तु हिन्दू जाति के भाग्य में स्वतंत्र राजलक्ष्मी नहीं थी। श्रेष्ठ आर्य जाति को विदेशीय मुग़ल जाति से पददलित ही होना था, वीर भारत को दीन हीन ही बनना था, तब ही तो राणा साँगा से वीर पराक्रमो पुरुषों को भी पराजित होना पड़ा। समय का चक्र बड़ा ही प्रबल है।

इन्हीं सुविख्यात राणा साँगा ने एक नीच स्वभाव के भृत्य को विश्वासपात्र बना रक्खा था। वह धीरे धीरे राज्य का मंत्री हो गया। राणा साँगा की मृत्यु होने पर उन के ज्येष्ठ पुत्र रत्नसिंह गद्दी पर बैठे परन्तु पाँच ही वर्ष में आपका देहान्त हो गया। तब उनके छोटे भाई विक्रमाजित सिंहासनारूढ़ हुए। परन्तु विक्रमाजित क्रूर और अत्याचारी थे। सरदारों के साथ निरादर का वर्त्ताव करते थे। यही कारण था कि वह राज-पद-च्युत कर दिये गये।

हिन्दुओं में राजा पूज्य देवता माना जाता है यदि वह बालक हो तो भी राजभक्त हिन्दू उसे देवता सदृश ही पूजते हैं। हिन्दुओं के शास्त्र का यह एक अटल सिद्धान्त है कि इस नियम के पालन न करने से सब सुखों में बाधा उपस्थित होती है। परन्तु इसकी भी सीमा है। यदि राजा

क्रूर तथा अन्यायी और दुराचारी हो, यदि वह प्रजा के भले बुरे का ख़्याल न रखता हो, यदि वह प्रजा को पुत्रवत न पालता हो तो इस नियम को तोड़ना न्याययुक्त है, अर्थात् प्रजा उस दुराचारी राजा को राज्य से अलग कर सकती है। हिन्दुओं के धर्मग्रन्थों में यह भी विधान है।

इसीके अनुसार सरदारों ने विक्रमाजित् की क्रूरता तथा अन्याय से तंग आकर पृथ्वीराज की उपपत्नी (खवास) के गर्भ से उत्पन्न हुए पुत्र वनवीर को जो कि राणा साँगा का विश्वासपात्र था, गद्दी पर बिठाया। राज्य में एक अद्भुत मोहनी है। राज्य पाकर मनुष्य आगे की सोचने लगता है, वह तब निन्नानवे के फेर में पड़ जाता है। राज्य पाकर वनवीर निष्कंटक राज्यलक्ष्मी भोगने का उपाय सोचने लगा। प्रधान कंटक जो उसके मार्ग में था वह संग्रामसिंह का छः वर्ष का बालक उदयसिंह था। वनवीर ने मदान्ध हो कर बालक के वध की ठान ली। बालक उदयसिंह की धाय का नाम पन्ना था। वह खीची राजपूत कुल की वीर पुत्री थी। उसका पुत्र भी छः वर्ष ही का था।

एक दिन जबकि राजकुमार खा पी कर सो गया था और धाय पलंग पर बैठी उसकी सेवा कर रही थी उसी समय महल का बारी राजकुमार की जूठन उठाने के लिए वहाँ गया और उसने कहा कि "बड़ा अनर्थ हो गया। दुष्ट वनवीर ने विक्रमाजित को मार डाला है और कुमार के वध के लिए आना ही चाहता है।" यह सम्वाद सुनते ही पन्ना का हृदय काँप गया। उसने सोचा कि विक्रमाजित को मार

कर क्रूर वनवीर कुमार को कभी भी जीवित न छोड़ेगा और वह दुष्ट शायद आता ही हो। उसने कुमार के बचाव का उपाय तुरंत सोच लिया। उसी महल में एक फूलों की टोकरी पड़ी मिल गयी। स्वामिभक्त धाय ने सोते हुए कुमार को उसीमें लिटा दिया और ऊपर पत्ते जूठन इत्यादि भर कर वारी से कहा कि अभी इसी समय टोकरी को लिए हुए किले के बाहर हो जा।

वारी ने कहा—"वनवीर अब आना ही चाहता है यदि वह राजकुमार को न पावेगा तो उसकी खोज के लिए मनुष्य भेजेगा। इस अवस्था में कुमार का बचना असम्भव हो जायगा।"

पन्ना ने कुछ सोच कर शान्तिभाव से उत्तर दिया—"उसको तो पता भी नहीं लगेगा। मैं अपने पुत्र को कुमार की शय्या पर सुला दूँगी। मेरा पुत्र मेवाड़ के भविष्यत राजा के जीवन पर बलिदान होगा।" यह कह कर उसने अपने सोये हुए पुत्र को राजकुमार के वस्त्र पहना कर राजकुमार के बिछोने पर सुला दिया। वारी यह देख आश्चर्य में होकर बोला, "पन्ना! तुम यह क्या करती हो।" पन्ना ने गंभीर भाव से उत्तर दिया, "मैं अपना धर्म पालन करती हूँ और तुम भी अपना धर्म स्मरण करके इस टोकरे को लेकर बाहर चले जाओ और जब तक मैं न आ सकूँ तब तक वहीं मेरी राह देखना।" वारी ने ऐसा ही किया। उसके जाने के थोड़ी देर बाद वनवीर हाथ में तलवार लिए वहाँ पहुँचा और पन्ना से पूछा, "राजकुमार कहाँ है मैं उसे

देखने और कुशलता पूँछने आया हूँ।" डर के मारे पन्ना का हृदय स्तंभित हो गया, रक्त का संचालन बन्द हो गया। कंठ सूख गया और मुख से एक शब्द भी न निकला। उसने काँपते काँपते अपने बालक की ओर संकेत किया जो कि कुमार उदयसिंह की शय्या पर सोया हुआ था। तत्काल निष्ठुर बनवीर ने बालक के दो टुकड़े कर डाले। केवल एक बार चिल्ला कर बालक ने प्राण दे दिये। बेचारी पन्ना के सामने ही देखते देखते उसके हृदय का चिराग बुझ गया। रनवास के लोग दौड़े हुए आये और वहाँ पर वह दृश्य देख राजकुमार को मरा जान गला फाड़ फाड़ कर रोने लगे। पन्ना चुपचाप अपने पुत्र की क्रिया करके महल से बाहर निकली और उस बारी को साथ लेकर विश्वासी भीलों से रक्षित दुर्गम अरावली पर्वत के मार्ग से ईडर होती हुई कुम्भलमेर पहुँची। दीपरा के वणिक् कुलोद्भव आशासाह नामक एक जैनी उस समय कुम्भलमेर के अधिकारी थे। पन्ना उनसे मिली और मिलते ही उसने उदयसिंह को उनकी गोद में डाल दिया और नम्रता से कहा, "अपने राजा के प्राण बचाइये।" आशासाह ने डर और घबड़ाहट से कुमार को गोद से उतारना चाहा परन्तु उसकी माता ने जो कि उस समय वहाँ बैठी थी आशासाह का ऐसा डरपोकपन देख उसे बहुत फटकारा और कहा, "स्वामिभक्त लोग स्वामी की भलाई करने में पीछे नहीं हटते और कष्ट आपदा की कुछ भी पर्वा नहीं करते। राणा साँगा का पुत्र तुम्हारा मालिक है। इस समय आपदा में होने के कारण तुम्हारे पास आया है। इस सुअवसर को

हाथ से न जाने दो। ऐसी दशा में इसे आश्रय देने से ईश्वर प्रसन्न होगा और एक दिन तुम्हारा यश संसार भर में छा जावेगा।" माता के वीर वाक्य सुन कर आशासाह को धैर्य हुआ और भतीजा कह कर उसका पालन करने लगा। छः वर्ष बाद यह बात सरदारों पर प्रगट हो गयी और इसका निश्चय करने के लिए वे सब कुम्भलमेर में एकत्रित हुए। अन्त में पन्ना के सब हाल कहने पर सब का संदेह मिट गया और बनवीर को मार कर उदयसिंह बारह वर्ष की आयु में गद्दी पर बिठाये गये।

इस प्रकार हितकारिणी धाय ने अपने पुत्र का वध करवा के भी राणा साँगा के वंश को नष्ट होने से बचा लिया। धन्य पन्ना! तुमने अपना नाम यथार्थ कर बताया। आजकल पन्ना जैसी स्त्रियों की वर्त्तमान भारत को आवश्यकता है। पन्ना की भाँति जब अपने देश तथा स्वामी के लिए आत्म-त्याग का व्रत धारण करके अपने पति-पुत्र कलत्रादिकों के प्राणों को न्योछावर करने वाले स्त्री पुरुष इस भारतवर्ष में जन्म लेंगे तभी देश की तथा जाति की उन्नति दृष्टिगोचर होगी। देखें भारत के वे दिन कब आते हैं!

अकबर का चित्तौड़-आक्रमण

वीर शिरोमणि दिल्ली पति अकबर के हृदय में चित्तौड़-विजय की लालसा बहुत दिनों से लग रही थी। महाराणा उदयसिंह के राजत्व-काल का सुअवसर पाकर अकबर ने चित्तौड़ पर चढ़ाई कर दी। राणा जी अपने पूर्वजों की भाँति वीर, विद्वान और कार्य-कुशल नहीं थे। अपने सरदारों के साथ रणक्षेत्र में युद्ध के लिए तो आये परन्तु जिसके हृदय में साहस, प्रतिज्ञा और दृढ़ता नहीं वह कभी किसी कार्य में सफल नहीं हो सकता। उदयसिंह के वीर सैनिक बहुत देर तक मुगलों का सामना करते रहे परन्तु जब मालिक ही में साहस नहीं तो सैनिक क्या कर सकते हैं। अन्त में राणा जी पकड़े गये। मेवाड़ का राणा मुसलमानों का बन्दी हो गया। वीर जननी मेवाड़ भूमि के मुख पर कलंक की कालिमा लगी। यह कैसे दुःख और शोक की बात है। राणा के कैद होते ही बड़ी हल चल मच गयी। उनके छुटकारे का कोई कुछ भी उपाय निर्धारित न कर सका। चित्तौड़ नगरी एक प्रकार बड़े संकट में पड़ गयी। यह दशा देख उदयसिंह की उपपत्नी (खवास) बड़ी क्रोधित होकर बोली, "क्या चित्तौड़ में कोई वीर न रहा? वीरों की जननी मेवाड़-भूमि का क्या समस्त तेज मिट गया, अब भी जो इतने लोग चित्तौड़ में हैं वे क्या निर्जीव हैं? क्या क्षत्रिय स्त्रियों ने निर्जीव संतानें पैदा की हैं? क्या

क्षत्रियों में अब जरा भी साहस, वीरता, तेज और स्वात्माभिमान नहीं है ? यदि है तो वे क्यों चुप चाप बैठ देश की तथा अपने स्वामी की यह दशा देख रहे हैं ?" उपरोक्त प्रश्न उसके सिर में चक्कर खाने लगे। क्रोध से उसके नेत्र लाल हो गये। शीघ्र ही वह जिरहबक्तर पहन, कमर में तलवार लगा, हाथ में धनुष और बाण धारण कर और घोड़े पर सवार हो रणभूमि में पहुँच गयी। एक स्त्री का ऐसा साहस देख सैनिकों के हृदय में भी साहस आ गया। वे द्विगुणित पराक्रम से मुसलमानों को काटने लगे। वीर रमणी भी इधर से उधर सिंहनी की भाँति मुसलमानों के मृगझुंड को मथन करने लगी। उसके साहस और वीरता ने अकबर तथा उसके सरदारों को स्तंभित तथा विस्मित कर दिया। वीर राजपूत अपनी स्त्री नेता के आधिपत्य में ऐसी वीरता से लड़े कि मुगल बादशाह अकबर को मैदान छोड़ कर चला जाना पड़ा। धन्य वीर रमणी ! तेरे हाथ से मुगल-सम्राट अकबर जैसे प्रतापी बादशाह को भी पराजित होना पड़ा। राणा उदयसिंह ने कैद से छुटकारा पाया, विजय-सूचक एक दर्बार हुआ जिसमें राणा जी ने अपनी उप-पत्नी की खूब ही प्रशंसा की। यह प्रशंसा बहुत से लोगों को बुरी लगी और उन्होंने समय पाकर उसका काम तमाम किया।

इन भीतरी झगड़ों के कारण राज्य में बड़ी हल चल मच गयी। यह सुअवसर देख कर अकबर ने अपने अपमान का बदला लेने के लिए एक बड़ी भारी सेना के साथ चित्तौड़ पर दूसरी बार चढ़ाई की। इस समय मुसलमानी

दल इतना था कि दस मील की लम्बाई में उसकी छावनी पड़ी। अबकर के चित्तौड़ के निकट पहुँचते ही उदयसिंह दुर्ग छोड़ कर पहले ही चले गये। फिर भी दुर्ग के रक्षकों की कमी नहीं थी। भिन्न भिन्न राज्यों के स्वतंत्रता प्रेमी सरदार और सामन्त अपनी सेनाएँ लेकर चित्तौड़ के पवित्र नाम को अमर बनाने तथा अपनी स्वतंत्रता को कायम रखने के लिए दुर्ग-रक्षा को तैयार हो गये। दुर्ग में आठ हजार क्षत्रिय थे जिन्होंने चार मास तक बड़ी वीरता से अकबर का सामना करके अपना जातीय गौरव स्थिर रक्खा। चूड़ा जी के वंशधर सलूवर के साहीदास दुर्ग में इस वीर दल के सेनापति थे। इनके अतिरिक्त और बहुत से वीर पुरुष दुर्ग रक्षा के लिए अपने प्राण तक नौछावर करने को उद्यत थे।

मुसलमानों ने किले को जा घेरा और 'अल्ला हो अकबर' की आवाज लगाते हुए चित्तौड़ के सूर्य्यद्वार की ओर बढ़े। वीर राजपूत भी सिंह की भाँति गर्जकर बन्दूक तीर तलवार से उनकी बाढ़ को रोकने लगे। वीर साहीदास अविश्रान्त शत्रुओं पर तीरों की वर्षा करने लगे। मुसलमान दुर्ग में घसने का दिल-तोड़ प्रयत्न कर रहे थे। शत्रुओं की गोलियों से धीरे धीरे वीर साहीदास के सैनिक मारे जाने लगे। परन्तु साहीदास निरुत्साहित नहीं हुए। बड़ी वीरता से लड़ते हुए वीर साहीदास अपने वीर सैनिकों के साथ मारे गये।

सेनापति साहीदास के मारे जाने पर वीरवर जयमल को सेनापति का भार सौंपा गया। जयमल ने सेनापति

का कार्य बड़ी बुद्धिमत्ता तथा कुशलता से किया और वीरता से लड़ कर सैकड़ों शत्रुओं को यमपुर का द्वार दिखलाया। एक दिन दूर से एक गोली की चोट खाकर वे हत हुए। इस वीरश्रेष्ठ विज्ञवर सेनापति के मरने पर चित्तौड़ में बहुत उदासीनता छा गयी। अब चित्तौड़ का विजय प्रत्यक्ष दीखने लगा। हाय! अब वीर-प्रसविनी चित्तौड़-भूमि का स्वतंत्रता-रूपी-रत्न खोने वाला है। इस संकट के समय में एक षोडष् वर्षीय युवा अपने देश के उद्धार के लिए सेनापति का पद लेता है। माता के पास जाकर वह कहता है :—

"आशिर्वाद दीजिये हे मा! करने को स्वदेश का त्राण।
विचलित होऊँ नहीं युद्ध में, निकल जांय चाहे ये प्राण॥"

सेना का भार केलवा के सोलह वर्षीय युवक वीर पत्ता जी को सौंपा गया। ऐसा उदाहरण कदाचित ही किसी जाति के इतिहास में मिले। पत्ता जी के पिता पहली बार ही चित्तौड़ की स्वतंत्रता के लिए अपने प्राणों की आहुति कर चुके थे। इनकी माता अपने पति के साथ इसी कारण सती नहीं हुई थी कि वह अपने सुपुत्र पत्ता जी को केलवा की गद्दी के लिए शिक्षित करे। वीर राजपूतनी ने अपने इकलौते पुत्र का कुछ भी मोह न करके युद्ध के लिए सज्जित किया और उसे वीरोचित उपदेश दे विदा किया।

प्रिय पाठको! उस समय की दशा को वर्तमान दशा से मिलान करिये और देखिये कि क्या अन्तर है। आजकल की मूर्खा स्त्रियों का तो मुख्य काम अपने पुत्रों को हउआ आदि का डर दिलवा कर डरपोक बनाना है। फिर भला

वीर पुरुष कहाँ से पैदा हों ! माता जैसा चाहे वैसा ही पुत्र बना सकती है, कहा भी है कि 'नास्ति मातृसमो गुरुः" परन्तु जहाँ पर मूर्खा और भीता स्त्रियाँ हैं वहाँ का ईश्वर ही मालिक है !

पर वीर पत्ता की माता वीर रमणी थी। उसने अपने पुत्र के जीवन की अपेक्षा चित्तौड़ के गौरव की रक्षा करना अधिक आवश्यक समझा। वह वीर-पत्नी थी, वीर-जननी थी और स्वयं वीरा थी। उसने इस विचार को अपने चित्त में आने का अवसर तक न दिया कि उसके पुत्र के मरने पर जगवत-कुल सदा के लिए लुप्त हो जायगा। केवल इस विचार से उस वीर माता को संतोष था कि मातृ-भूमि के लिए उसका पुत्र प्राण देगा, राजपूतों की स्वतंत्रता के लिए उसका पुत्र प्राण देगा।

अपने पुत्र को आज्ञा देते समय वीरमाता ने सोचा कि मेरा पुत्र तरुणावस्था का है, कहीं अपनी नवयुवा पत्नी की ओर उसका चित्त आकर्षित न हो जिससे वह प्राण देने में संकोच करे और वीर जगवत वंश में धब्बा लगाये। यह सोच कर वह आप भी अपनी पुत्र-वधू को साथ लेकर लड़ने को उद्यत हो गयी। युद्ध के सब हथियारों से सज्जित होकर वे दुर्ग से नीचे उतरीं। उनका उत्साह देख कर अन्य स्त्रियों ने भी जिरहबक्तर पहन कर उनका साथ दिया। वे वीरांगनाएँ वीर रस में मत्त वीरता के गीत गाती हुई शत्रुओं पर टूट पड़ीं। दोनों दलों के वीर उन वीर नारियों की वीरता देख कर अचम्भे में रह गये। अपनी माता, भगनी और वधुओं को सुकुमारपन छोड़ स्वदेश के लिए वीरता से

शत्रुओं का नाश करते हुए काम आते देख कर वीर राज-पूतों को बड़ा जोश आया और सब मोह ममता छोड़ कर वे सिंहों की भाँति गर्ज कर शत्रुसेना पर टूट पड़े। गोले गोलियों की उन्होंने कुछ पर्वा नहीं थी। परन्तु धीरे धीरे राजपूतों की संख्या कम होने लगी। परन्तु वीर राजपूत निरुत्साहित नहीं हुए। मुसलमानों की उन्होंने कुछ पर्वा न की। उनकी अधीनता स्वीकार करने का विचार तक न किया। क्यों करते, ऐसा करके क्या वे वीर क्षत्रिय वंश में कलंक लगाते। क्या वे वीर पुरुष होकर देश वैरियों के अधीन होना पसंद करते? नहीं, कभी नहीं। वीर हृदय राजपूत ऐसा कब कर सकते थे। दिन पर दिन किले की जन संख्या कम होने लगी। अब चित्तौड़ के बचाव का कोई उपाय नहीं देख पड़ा। हाय! वीर-प्रसवनी चित्तौड़-भूमि आज अनाथा होने को है। निदान जौहर की तैयारी की गयी। वीर स्त्रियाँ भी अपने पवित्र सतीत्व व्रत की रक्षा के अर्थ सानन्द अग्नि में प्रवेश करने को तैयार हो गयी। गयी। थोड़ी ही देर में सैकड़ों रूपलावण्यमयी स्त्रियाँ,

'भारत की सतीत्व-महिमा पर करने चली मुग्ध संसार।'

सब जल कर भस्म हो गयीं। अब वीर राजपूतों को किसी बात का मोह न रहा। 'मातृ-भूमि के लिए मरेंगे' बस यह विचार उनके चित्त को हर्षित कर रहा था। परन्तु जब उनको अपनी मातृ-भूमि का भावी विचार आता था तो उनके हृदय एकदम काँप जाते थे। दुर्ग का द्वार खोल कर वे सब दिन निकलने की प्रतीक्षा करने लगे। प्रातःकाल होते

ही मुग़ल-सेना किले की ओर बढ़ी और दुर्ग के फाटक को खुला पाकर अभिमान सहित उसमें धसने को अग्रसर हुई। अब उन वीर राजपूतों ने उस प्रबल शत्रु सेना को अपनी छाती की दीवाल से रोका, केवल रोका ही नहीं पर उसके छक्के छुड़ा दिये। अब मुग़लों की आगे जाने की हिम्मत न पड़ी निदान उन्हें पीछे लौटना ही पड़ा। अकबर ने जब देखा कि केवल सेना से वीर बाँके राजपूत हटने वाले नहीं तो उसने डेढ़ सौ मत्त हाथी छोड़ने की आज्ञा दे दी। हाथियों ने छूटते ही बहुत से मनुष्यों को रौंद डाला परन्तु वीर राजपूत हाथियों से भी उसी प्राकर लड़े जैसे कि वे मुग़लों से लड़ रहे थे। ईश्वरदास चौहान ने मधुकर हाथी के महावत से आकर पूँछा कि इस हाथी का नाम क्या है। नाम बतलाने पर उसने एक हाथ से तो उसका दाँत पकड़ लिया और दूसरे से जमधर (कटार) मार कर कहा, "क्यों गजराज जी, हमारा मुजरा अपने कदरदाँ बादशाह से कहोगे ?"

जब बादशाह ने देखा कि इन हाथियों से भी राजपूत लोग नहीं दबे तो उसने तीन सौ हाथी और छोड़ने की आज्ञा दी। अब बेचारे राजपूत उन काली शिलाओं से कहाँ तक लड़ते। निदान वे अब देवस्थानों की रक्षा के लिए सशस्त्र मन्दिरों के द्वारों पर जा डटे। हाथियों की बाढ़ इस प्रकार सैकड़ों वीरों को रौंदती हुई आगे बढ़ी। बस वीर पत्ता यह सहन न कर सका। उसने तुरन्त ही हाथ में नंगी तलवार लेकर एक मत्त हाथी पर जो कि बहुत से मनुष्यों को मार

चुका था आक्रमण करके उसे क्षत किया। उस समय वह वीर ऐसा शोभित होता था मानों एक सिंह का बच्चा हाथियों के झुंड पर झपटा हो। इसी बीच में वह आघातों से चूर चूर होकर भूमि पर गिर पड़ा। मुगल लोग उसे जीवित पकड़ने को दौड़े परन्तु राजपूतों ने उसे चारों ओर से घेर लिया। परन्तु इससे वे कृत कार्य न हो सके।

इस प्रकार चित्तौड़ का पतन देख कर यह वीर एक लम्बी साँस लेकर सहसा ये वाक्य बोल उठा :—

"पराधीन कर मातृ-भूमि को हाय ! विश्व में सभी प्रकार।
गमनोद्यत हूं मैं धरणी से धिक है मुझको बारंबार॥

भूतल पर आते ही मेरा तत्क्षण जो हो जाता नाश।
तो क्यों मुझे देखना पड़ता राजपूत-गौरव का ह्रास॥१॥"

"अथवा इसमें किस का वश है यह सब विधि के आधीन।
यह भी अच्छा हुआ कि मेरा होता है अब जीवन क्षीण॥

अब न देखना मुझे पड़ेगा भारत का विशेष अपकर्ष।
रहना पड़े नरक में चाहे अन्य लोक में लाखों वर्ष॥२॥"

"मरता हूं मैं यद्यपि रण में है यह बड़े भाग्य की बात।
देख रहा हूं किन्तु इस समय भारत-महिमा का अधिपात॥

यह अनन्त निद्रा भी मुझको देती नहीं शान्ति का लेश।
जय-प्राप्ति के बिना मृत्यु भी देती है दुःखदाह अशेष॥३॥"

"सूर्यदेव ! तुम भारत-भू को जला क्यों नहीं देते हाय।
रिपु-पद-दलित हो रही है यह होकर सब प्रकार असहाय॥

निज कुल की भी देख दुर्दशा हो कैसे तुम क्रोध विहीन।
पुण्यभूमि यह आज हमारी है कैसी हा ! दीन मलीन* ॥४॥'

यह कहते २ उसका कंठ रुद्ध हो गया और उसका मुख तेज हीन होने लगा। देखते देखते इस असार संसार को छोड़ कर चल बसा। ऐसे वीर की मृत्यु हाय हम लोगों के कलेजे को अब तक विदीर्ण कर रही है।

जाओ वीर ! सहर्ष स्वर्ग में, कैसे कहें हाय हम लोग।
वीर भूमि असहाय हो गई, होते ही तव विषम वियोग* ॥"

अंत में चित्तौड़ का शोचनीय अधिपतन हुआ। राजपूतों ने अपने प्राणों का मोह करके अपने को शत्रुओं के हाथों में नहीं सौंपा। किसी ने अपने केसरिया वस्त्र तथा राजपूत नाम को कलंकित नहीं किया।†

अकबर ने जयमल और पत्ता की वीरता पर मोहित दिल्ली के किले में दर्वाजे के दोनों ओर दो बड़े २ हाथियों पर सवार उनकी मूर्तियाँ बनवा कर रक्खीं। ये ही वीर पुरुषों के स्मारक हैं।

---

* यह कविता बाबू मैथिली शरण की 'वीर बालक' नामक कविता से उद्धृत की हैं।

†कहते हैं कि उस समय मृत पुरुषों के ७४॥ऽ मन जनेऊ उतरे थे। तभी से पत्रादिकों पर ७४॥ लिखते हैं जिसका अभिप्राय यह है कि यदि कोई और खोले तो चित्तौड़ के इतने वीरों के मारे का पाप लगे।—लेखक

झाला मानसिंह

महाराणा प्रताप का नाम सुनते ही किस स्वदेश-प्रेमी मनुष्य का हृदय न उछल पड़ता होगा। कौन ऐसा अभागा भारतवासी होगा जिसने वीरवर प्रताप का नाम स्मरण करके अपने को पवित्र न किया होगा। जिस प्रताप ने स्वदेश के लिए स्वजात्यभिमान से कभी भी किसीको शिर न झुकाया, भला भारतवासी उस वीर पुरुष को कैसे भूल सकते हैं। स्वतंत्रता के पीछे जिसने अपना सर्व्वस्व स्वाहा कर दिया भला हम लोग उसे कभी भूल सकते हैं?

जिस समय ये ही महाराणा प्रताप गद्दी पर बैठे उस समय चित्तौड़ पर सम्राट अकबर का पूर्ण अधिकार था। राणा जी की उस समय कुम्भलमेर में राजधानी थी। परन्तु दुर्दैव ने उन्हें वहाँ भी शान्ति से न रहने दिया। आपस का द्वेषभाव बड़ा ही प्रबल है। इसीने तो भारत को गारत कर रक्खा है। भारतवासी राजनैतिक पेचों से आदि से ही अनभिज्ञ रहे हैं। यही इस अधःपतन का मुख्य कारण है। किसी को स्वधर्म पर चलते देख कर डाह करना यहाँ का स्वाभाविक गुण है। जिस समय प्रतापसिंह अपने कुटुम्बियों के साथ कुम्भलमेर में वास करते हुए चित्तौड़ की पुनः प्राप्ति की सामग्री कर रहे थे उसी समय एक ऐसी घटना संघटित हुई जिससे युद्ध जल्दी ही छिड़ गया।

अकबर का मुख्य सेनापति राजा मानसिंह दक्षिण विजय

करके लौट रहा था। कुम्भलमेर के पास आ कर उसने विचारा कि राणा प्रतापसिंह से भी मिलते चलें। महाराणा ने उसके स्वागत में कोई बात उठा न रक्खी। परन्तु भोजन के समय राणा जी वहाँ पर उपस्थित नहीं थे। राजा मान ने राणा जी की अनुपस्थिति का कारण पूँछा। उत्तर में मंत्रियों ने उनकी ओर से क्षमा प्रार्थना करके निवेदन किया, "महाराणा जी के शिर में पीड़ा है इसलिए वे स्वयं आने में असमर्थ हैं। महाराज कुमार को भेज दिया है।" परन्तु मानसिंह समझ गये और गर्व और सम्मान पूर्ण स्वर में उन्होंने कहा, "मैं उनके शिर के दर्द का कारण खूब अच्छी तरह से समझ गया हूँ। उनसे कह देना कि मैं शीघ्र ही उनके शिर दर्द की औषधि लेकर लौटूंगा।" यह कह कर विना भोजन किये ही मानसिंह उठ खड़े हुए और चलने की तैयारी करने को कहा। इतने में महाराणा जी आ गये। राणा जी को देख कर मानसिंह बोले, "जो मैं आपका मान-मर्दन न करूँ तो मेरा नाम मान नहीं।" यह सुनते ही प्रताप के नेत्र लाल हो गये और कड़क कर बोले, "जिस राजपूत ने तुर्क को अपनी बहिन दी, जिसने कदाचित तुर्क के साथ भोजन किया हो, सूर्य्यवंशी बप्पा रावल का वंशधर उसके साथ भोजन करने को तैयार नहीं * । लड़ाई के मैदान

---

* परलोकवासी बाबू राधाकृष्णदास जी ने इसी प्रताप कथन को इस प्रकार कविता में लिखा हैः—

"जिन कुल की मरजाद लोभ वस दूर बहाई।
जीवन भय जिन खोय दई आपनी बड़ाई॥

मैं आपको देख कर मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।" मानसिंह के जाते समय किसी सरदार ने कटाक्ष करके यह भी कहा कि "लड़ाई में अपने बहनोई को भी साथ लेते आइयेगा।" बस यही प्रताप के आपत्ति के दिनों का प्रभात था।

अकबर के सामने मानसिंह ने अपने अनादर का सब वृत्तान्त सुनाया। अकबर बहुत ही क्रुद्ध हुआ और एक सेना तैयार कराके मानसिंह के साथ भेजने की फौरन आज्ञा दे दी। मानसिंह इस सेना के मुख्य सेनापति थे और उनके साथ आसफ ख़ाँ, मीर बख़्शी, गाज़ी ख़ाँ, सैयद अहमद, रायलूनकरण आदि कई प्रसिद्ध सर्दार थे। इस बड़ी सेना का मुकाबिला करने के लिए चेतक पर सवार होकर वीरवर प्रताप अपनी छोटी सी सेना लिए हल्दीघाट नामक घाटी पर मुस्तैदी के साथ डटा हुआ था। पहाड़ी के ऊपर भील लोग तीर कमान इत्यादि से सजे हुए थे।

संवत् १६३२ की श्रावण की सप्तमी को घोर युद्ध आरम्भ हो गया। ऐसा लोमहर्षण समर, स्वाधीनता की रक्षा के लिए ऐसा कठोर उद्यम, ग्रीस देश के सिवा संसार के दूसरे देश में कदाचित कभी नहीं हुआ। मेवाड़ की स्वाधीनता के लिए वीर राजपूत आगे बढ़ने लगे और

जिन जग सुख हित करी जाति की जगत हंसाई।
लखि जिनको मुख वीर सबै सिर रहे नवाई॥

तिनके संग खानो कहा मुख देखन हू पाप है।
जाय सीस बरु धर्म हित यह सीसौदिया थाप है॥"

अपने खड्गों से शत्रुओं को रुंड मुंड करते मृत शवों से मेदनी को पाटने लगे। वीर प्रताप भी निर्भय भाव से शत्रु-दल का सैनिक क्रम तोड़ कर उसमें इधर उधर दौड़ दौड़ कर मानसिंह को देखने लगे। उनका विचार था कि उसे उनके किये का दंड दूँ। परन्तु वह कहीं भी उनको नहीं मिला। उस समय जो प्रताप के सामने आया वही दो टूक हो जमीन सूँघने लगा। अपने नेता तथा राजा को इस प्रकार लड़ते देख राजपूत भी जी-जान से अपने देश-शत्रुओं से लड़ने लगे। वीर प्रताप अकस्मात सलीम के हाथी के पास जा पहुँचा। उसे देख कर उन्होंने अपना वर्छा साध अपने प्यारे चेतक घोड़े को उस ओर बढ़ाया। चेतक भी अपने स्वामी के मन की जान कर मानो उत्साह से भर गया। उसने सलीम के हाथी पर चोट की और महाराणा ने सलीम पर बर्छा चलाया परन्तु वह महावत के लगा। उस का हाथी मैदान छोड़ भागा। राणा ने उसका पीछा किया परन्तु बहुत से मुसलमान अपने प्यारे शहजादे की रक्षा के लिए इकट्ठे हो गये। उन्होंने प्रताप को चारों ओर से घेर लिया। तो भी प्रतापसिंह हतोत्साह नहीं हुए। इस समय बड़े जोश से युद्ध होने लगा। कहने को प्रताप शत्रु सेना में घिरा हुआ था परन्तु जिस ओर वह घायल केसरी की भाँति झपटता था उसी ओर मुग़लों में हाहाकार मच जाता था। एक छिन भी आज उसकी तलवार स्थिर नहीं है। लड़ते लड़ते बहुत से वीर राजपूत मारे गये।

प्रतापसिंह का पक्ष कमजोर होने लगा। मुगल सेना राणा प्रताप को घेरे हुए थी और राजपूत वीर अपने वीर

सरदार को जिसे सात घाव लग चुके थे—तीन बरछी से, तीन खड्ग से और एक गोली से—बचाने के लिए जान दे रहे थे। प्रतापसिंह के मस्तक पर मेवाड़ का राजचिह्न विराजमान था इसलिए उन्हें पहचान कर शत्रु लोग उन्हीं पर आक्रमण करते थे। इसी कारण वे तीन बार संकट में पड़ चुके थे पर अपनी रण-निपुणता, अद्भुत साहस और उद्योग से बच गये थे। परन्तु इस बार वे लड़ते २ शत्रुओं के बीच में बुरी तरह से घिर गये थे। वे अपनी सेना के मुख्य भाग से अलग हो गये थे। कोई भी सरदार उनके पास नहीं था। जिधर देखो उधर ही शत्रु ही शत्रु देख पड़ते थे। तो भी वीर प्रताप निर्भय हो बड़ी वीरता और सफाई से तलवार चला रहा था। अपने स्वामी को इस प्रकार संकट में देख राजपूत लोग उधर ही को झुके। इसी अवसर पर सादरी के झाला मानसिंह ने बड़े मार्के का काम किया। उसने बड़ी सफाई से प्रताप के मस्तक से मेवाड़ का राजचिह्न हटा अपने मस्तक पर धारण कर लिया और वीरता से लड़ने लगा। मुगलों ने प्रताप को छोड़ उस पर आक्रमण किया। वह वीरता से लड़ता हुआ काम तो आया परन्तु मेवाड़ के इतिहास में अपना नाम अजर अमर कर गया। क्या आत्मत्याग का इससे बढ़कर कोई उदाहरण कहीं मिल सकेगा। इसके बदले में मानसिंह के वंशधर आज तक राजचिह्नों से विभूषित राणा जी के दाहिने हाथ की ओर बैठते हैं। राणा जी के बाईस सहस्र राजपूतों में से केवल आठ सहस्र जीवित बचे।

पहले दिन की लड़ाई पूरी करके महाराणा प्रताप रक्त से लथपथ लड़ाई की थकावट से सुस्त चेतक पर भविष्य का विचार करते जा रहे थे। उनको इस प्रकार अकेले जाते देख दो मुसलमानों ने उनका पीछा किया। यह देख प्रताप के छोटे भाई शक्तसिंह के हृदय में भ्रातृस्नेह का स्रोत उमड़ आया। स्नेह भी कैसी वस्तु है कि जो शक्तसिंह दो घंटे पहले प्रताप के प्राणों का ग्राहक बना हुआ था अपने भाई के पीछे दो यवनों को जाते देख उसका सब द्रोह उड़ गया और स्नेह का स्रोत बह निकला। उसने यवनों का पीछा करके उनका काम तमाम किया। फिर आगे बढ़कर प्रताप को मातृभाषा में पुकारा, "हो नीलारा घोड़ारा असवार"। प्रताप ने चौंक कर ज्यों ही पीछे की ओर देखा अपने भाई शक्त को पाया। प्रताप ने अपने घोड़े को रोक कर उत्तर दिया, "अरे ओ देशशत्रु! क्या तूने यह अवसर मुझसे बदला लेने का सोचा है। अच्छा आ! यद्यपि मैं घायल हूँ तथापि मुझमें इतनी शक्ति है कि तुझे दंड दे सकूं।" परन्तु शक्तसिंह अपने भाई के चरणों पर गिर पड़ा और उसने अपने पिछले अपराधों की क्षमा माँगी। दोनों भाई गले मिले।

हल्दी घाटी के युद्ध के विषय में ग्रीस देश की तुलना करते हुए टाड साहब लिखते हैं :—

"Haldi Ghat is the Thermopyle of Mewar; the field of Deweir her Marathon."

भामासाह

हल्दी घाट के युद्ध के पश्चात वीरवर प्रताप को अपने कुटुम्ब के साथ वन वन जंगल जंगल पहाड़ पहाड़ पर घूमना पड़ा था। प्रसिद्ध पुण्य-भूमि मेवाड़ पर यवनों का आधिपत्य हो गया था। वीर प्रताप को वन में भी मुगल शान्ति से न रहने देते थे। सदा उनको मुगल-सेना से सचेत रहना पड़ता था। कभी कभी उनको दिन में चार पाँच बार तैयार रसोई छोड़ कर भागना पड़ता था। कई बार उनके कुटुम्बी यवनों के हाथ पड़ते पड़ते बच गये थे। परन्तु वीरवर प्रताप ने पराधीनता स्वीकार करने का विचार तक नहीं किया। इस समय भील लोगों ने अपनी राजभक्ति का अच्छा परिचय दिया। प्रताप के बच्चे बेत के झूलों पर रहते थे, सादा वस्त्र पहनते थे, सादा भोजन पाते थे सो भी समय पर नहीं। परन्तु यह हृदयकंपी दृश्य भी प्रताप की अतुल वीरता, अतुल साहस और अतुल धीरता को जरा भी नहीं कम कर सके। इतनी घोर आपत्ति झेलने पर भी स्वदेशानुराग तथा स्वतन्त्रता का प्रेम प्रताप से दूर नहीं हुए। अनेक प्रकार के कष्ट सह कर बिना सोये रात बिता करके भी प्रताप ने अपना स्वातंत्र्य-व्रत नहीं छोड़ा। उस वीर पुरुष को अपना कुछ भी फिक्र नहीं था। परन्तु कहीं उनकी स्त्री पड़ी है, कहीं पुत्र है, कहीं आप हैं, फल फूलों पर गुजारा कर रहे हैं, यह देख कर कभी कभी वे अधीर हो जाते थे। सब से ज्यादा सोच उनको इस बात का था कि कहीं उनकी स्त्री इत्यादि शत्रुओं के हाथ न पड़ जावें नहीं तो

पवित्र सीसौदिया वंश कलुषित हो जावेगा। एक बार एक ऐसी घटना हुई कि जिसने प्रताप जैसे वीर पुरुष का भी कलेजा दहला दिया और उन्होंने अकबर के पास सन्धि-पत्र लिख ही भेजा। एक दिन की बात है कि प्रताप अपने परिवार के साथ एक घने जंगल में अपनी थकावट मिटा रहे थे। एक ओर उनकी रानी तथा पुत्र वधू 'मोल' नामक एक जंगली घास की रोटी बना कर बच्चों को बाँट रहीं थीं। एक एक रोटी सब के हिस्से में आयी। उनकी छोटी पुत्री ने उसमें से आधी रोटी दूसरे वक्त के लिए रख छोड़ी थी। प्रताप भी पास ही हरी घास पर लेटे हुए भारत के भविष्य तथा अपनी आपत्तियों पर विचार कर रहे थे। इतने ही में उनकी पुत्री एक चीख मार चिल्ला पड़ी क्योंकि उसके हाथ से एक बन-बिलाव आधी रोटी लेकर भाग गया। कन्या इतनी रोयी कि प्रताप का हृदय द्रवीभूत हो गया। नेत्रों के सामने अन्धकार छा गया और नेत्र अश्रुपूर्ण हो गये। साहस और अटलता का भाव थोड़ी देर के लिए उनके हृदय से हट गया। उनके मुख से यह निकल ही गया कि "ऐसे राज-सम्मान और प्रतिष्ठा को धिक्कार है।" उसी समय प्रताप ने एक सन्धि पत्र अकबर को लिख भेजा।

उसे देख कर अकबर को बड़ी खुशी हुई और उसने वह पत्र बीकानेर-नेरश के भाई पृथ्वीराज को जो कि अकबर के सामने प्रताप की बड़ी प्रशंसा किया करते थे दिखलाया। यह देख कर पृथ्वीराज को असीम दुःख हुआ और उन्होंने एक जोशीली कविता बना कर प्रताप के पास भेज दी। उस कविता के पढ़ने ही नया जोश और उत्साह प्रताप के हृदय

में आ गया मानों कई हजार वीरों ने आकर उसके कान में कह दिया कि हम आप की सहायता करेंगे। फिर उसने सन्धि करने का स्वप्न में भी विचार नहीं किया। वे फिर वनों के गुप्त स्थानों में फिरने लगे और समय समय पर शत्रुओं पर आक्रमण करके कभी कभी उनका नाश भी करने लगे। बहुत दिवस तक इसी भाँति कभी आधे पेट कभी भूँखे ही रह कर वे मुसलमानों से लड़ते रहे। परन्तु अब उनके बहुत से सहायक नष्ट हो गये, द्रव्य का भी अभाव हो गया, वन के फल फूलों ने भी अस्तीफा दे दिया और घास पात का भी अभाव हो गया।

क्या ऐसी अवस्था में कोई भी पुरुष स्वतन्त्रता का ध्यान रख सकता है। परन्तु आधीनता स्वीकार करना प्रताप के लिए एक महान कष्ट था। अन्त को उसने जन्म-भूमि त्याग सिन्ध नदी के तट पर राज्य-स्थापन करने का विचार किया। यात्रा की सब सामिग्री दुरुस्त की गयी। अपने बचे बचाये थोड़े से सरदारों को साथ ले शोक से मन मलीन वे जाने को उद्यत हो गये। अपने प्राणों से भी प्यारी 'स्वर्गादपि गरीयसी' जन्म-भूमि चित्तौड़ को बार बार जी भर के देखा और बार बार प्रणाम करके दुःखित भाव से कहने लगे, "हाय! अब इस जन्म में कदाचित मैं अपनी प्यारी मेवाड़ भूमि का शत्रुओं से उद्धार न कर सकूँगा। हाय! अब मेवाड़ भूमि यवनों के ही अधिकार में पड़ी रहेगी।"

यह कह कर वे स्वदेश छोड़ चल दिये। जाते समय वे

बार बार चित्तौड़ की ओर देखते थे। जब वे सरदारों सहित मरु भूमि में पहुँचे तो सूर्य्य की प्रखर किरणों से व्याकुल हो सब को प्यास ने सताया। मरुभूमि में कहीं भी जल नहीं मिलता था। प्यास के मारे प्रताप का मुख सूखा जाता था। इतने में एक सरदार बड़ी कठिनता से कहीं से एक लोटा जल लाया और राणा जी के भेंट किया। राणा जी उसे लेते ही पृथ्वी पर जल गिरा कर बोले, "मेरा यह धर्म नहीं कि आप लोगों के प्यासे होते हुए मैं जल ग्रहण करूं।"

परन्तु उनको सर्वदा के लिए अपनी जन्मभूमि नहीं छोड़नी पड़ी। अरावली पहाड़ से उतर कर मरुभूमि को पार कर मारवाड़ की सीमा पार करने को ही थे कि उनका पुराना मंत्री वैश्यकुल-भूषण वृद्ध भामासाह उनकी सेवा में आ पहुँचा। वह महाराणा के पैर पकड़ कर कहने लगा, "हे अन्नदाता जी! आप मेवाड़ को अनाथ करके कहाँ को पधारते हैं। महाराज! इस प्रकार आपके चले जाने बाद मेवाड़ की कौन खबर लेगा। महाराज मैंने आपका अन्न खाया है और अब भी खाता हूँ। मेरे पूर्वजों ने जो धन पैदा किया है वह सब आपका ही है। आप धनाभाव से स्वदेश त्याग करने जा रहे हैं। यह देख कर भी यदि मेरा कलेजा न पसीजे जो धिक्कार है मुझे और मेरे धन को। मेरा शरीर आपके ही अन्न जल से पला है। इतना धन आप ही की कृपा का फल है। उस धन से जहाँ तक हो सके मातृभूमि की रक्षा कीजिये। मैं वृद्ध हूँ और असमर्थ हूँ नहीं तो वैश्य कुल में जन्म लेकर भी आपका खाया अन्न सफल कर

दिखाता। इससे बढ़ कर और कुछ भी सहायता मैं नहीं कर सकता। मेरा धन मेवाड़ का तथा आपका है। यदि वह मेवाड़-माता तथा आपके काम आवे तो इससे अच्छी और क्या बात है। मैं इससे कृतार्थ हो जाऊँगा। इसलिए महा-राज, पीछे लौटिये।"

भामासाह के वचन सुन प्रताप को ऐसा ज्ञात हुआ मानो मातृ-भूमि ही ने उसे उनके पास भेजा है। उनका उत्साह बढ़ गया उनके मुख पर एक अपूर्व कांति छिटक गयी। उनके ओठों पर मुसकराहट झलकने लगी और मेवाड़ को स्वतंत्र करने की दृढ़ आशा उनके हृदय में बँध गयी उस धन से लगातार बारह वर्ष तक २५ हजार सेना का खर्च चल सकता था।

धन के मिलते ही स्वदेश लौट कर प्रताप ने बहुत सी सेना भरती की और शान्ति से बैठे हुए सेनापति शहबाज़ खाँ पर आक्रमण करके मारकाट मचा दी। वह अपने प्राण लेकर भाग गया। थोड़े ही दिनों में उन्होंने ३२ गढ़ अधि-कार में कर लिए और शान्ति से राज्य करने लगे। मुसल-मानों ने भी उन पर फिर चढ़ाई नहीं की। इससे उनके पिछले दिन शान्ति से कटे।

भामासाह की राजभक्ति और स्वदेश-प्रेम सर्वदा सराह-नीय हैं, उसका आत्म-त्याग सर्वदा अनुकरणीय है। एक प्रकार मेवाड़ के सच्चे उद्धार-कर्त्ता आप ही हैं। जब तक संसार में मेवाड़ राज्य स्थिर रहेगा भामासाह की अतुल कीर्ति सदा देदीप्यमान रहेगी।

पृथ्वीराज राठौर की धर्मपत्नी

जिस समय जगद्विख्यात प्रजाप्रिय सम्राट अकबर के राज्य में शांति विराजमान थी, कोई भी किसी को दुःख न दे सकता था, कोई भी किसी के धर्म पर आक्षेप न कर सकता था, और कोई भी दीन हीन मनुष्यों पर बलात्कार नहीं कर सकता था, उसी समय खास महलों के भीतर खास उस अकबर के हाथ से कि जिसको जगद्गुरु इत्यादि पूज्य पदवियों से सम्मानित किया गया है, बिचारी अबलाओं पर घोर अत्याचार होता था। यह बात अद्भुत प्रतीत होता है कि जिस अकबर को इतिहास लेखकों ने सत्यवादी, धर्मनिष्ठ आदि लिख कर ईश्वर तुल्य बना दिया है क्या वही इस तरह चुपके चुपके अबलाओं के पवित्र पातिव्रत धर्म पर पदाघात करता था। जिन पुरुषों की उस पर अटल भक्ति तथा विश्वास था, क्या उन्हीं की प्राणेश्वरी पत्निओं को विश्वासपात्र अकबर कलंक कालिमा से कलुषित करता था! क्या यह सच है? ऐसा विचार हृदय में एक बारगी उठ आता है।

मुसलमान लेखकों ने इस बात को बहुत छिपाना चाहा है परन्तु सत्य कभी छिप नहीं सकता है। इस अपने पैचाशिक विचार को कार्य में परिणत करने के ही विचार से अकबर ने एक दिन महीने में ऐसा नियत किया था कि उस दिन राज-महल के अन्दर किसी पर्देदार स्थान पर एक बाजार लगता था। उसमें केवल स्त्रियाँ ही रहतीं

थीं। दूर दूर की अनभिज्ञ स्त्रियाँ वहाँ पर सैर करने जाया करतीं थीं। सौदागरों की स्त्रियाँ वहाँ पर अनेक कारीगरी की चीजें बेचने जाया करतीं थीं। बेचारी अबलाओं को क्या मालूम था कि वहाँ पर उनका पवित्र पातिव्रत धर्म भी बिक जायगा। बादशाह वहाँ पर कई दूतियों के साथ भेष बदल कर घूमा करता था और सुन्दर युवतियों को देख कर उन्हीं दूतियों द्वारा उन्हें भुलावा देकर बलपूर्वक उनका सतीत्व नष्ट करता था। इस दिवस का नाम अकबर ने 'खुशरोज़' रक्खा था और यह महीने की नवीं तारीख को होता था।

जब बीकानेर के राजकुमार वीरवर पृथ्वीराज की धर्म-पत्नी ने सुना कि इस पापमय खुशरोज के दिन कितनी ही अभागिनियों का सतीत्व-व्रत बलात् तोड़ दिया जाता है, तो उसके क्रोध का पार न रहा। उसी समय अपने जी में प्रण कर लिया कि 'यदि मैं इस कुरीति को न मिटवा दूँ तो क्षत्रिय-पुत्री नहीं।' सच है वीर बालाओं से यह कब सहन हो सकता है। वे ऐसा अन्याय सुन कर कभी भी कान में तेल डाल कर नहीं बैठ सकती हैं।

उसने इस विषय में अपने पति का परामर्श लिया और उनके अनुमोदन करने पर वह स्वयं उनके साथ दिल्ली चली गयी। वह अब अगले महीने के 'नवरोज' अर्थात् खुशरोज की प्रतीक्षा करने लगी।

खुशरोज के दिन वह भी सुन्दर सुन्दर वस्त्र आभूषणों से सज्जित हो उस मेले में गयी और अपनी सहेलियों के साथ इधर उधर घूमने लगी। वह सुन्दरता में भी एक ही थी। अकबर उसे देखते ही मोहित हो गया। उसने उसे

फँसाने के लिए दूतियाँ भेजो। वह इस कार्य के लिए तो आयी ही थी, दूतियों के साथ खुशी से होली। दूतियाँ उसे घुमाती फिरातीं मेले की सैर कराती हुईं एक सुरंग में ले चलीं। वह भी निर्भय उसके साथ चली गयी। वहाँ एक कमरे में उसे बैठा कर दूतियाँ वहाँ से चली गयीं। थोड़ी ही देर में काम-पीड़ित अकबर वहाँ पहुँचा और अनेक मीठी मीठी बातें बना कर उसे लोभ में फसाना चाहा। जब किसी प्रकार वह राजी नहीं हुई और उसे उपदेश करने लगी तब वह बलात् अपनी इच्छा पूर्ण करने का विचार करके हाथ फैला कर उसकी ओर बढ़ा। यह देखते ही उस सती के सिर से पैर तक बिजली सी दौड़ गयी। बड़ी तेजी से उछल कर उसने एक लात अकबर की छाती में इस जोर से मारी कि धम से वह जमीन पर गिर पड़ा। उसके गिरते ही वह कमर से कटार निकाल उसकी छाती पर सवार हो गयी और कटार की नोक उसकी छाती पर अड़ा लाल लाल नेत्र कर कड़क कर बोली, "अरे चोर, मुँह जोर, निर्लज्ज, क्या तूने राजपूत कुल के कलंकित करने का भी विचार किया है? अरे दुष्ट, धर्म का अवतार बन कर यह पैशाचिक कर्म करने को उद्यत हुआ है? बस कसम खा कि कभी किसी स्त्री का सतीत्व नष्ट करने का विचार तक न करेगा। बोल, बोल, नहीं तो अभी इस कटार को तेरे कलेजे में भोंक कर पृथ्वी का भार हलका करती हूँ।"

अकबर उस राजपूतनी का ऐसा अद्भुत साहस देख कर डर के मारे काँपने लगा। पापी, दुराचारी और चोरों में साहस ही कितना होता है। उसकी पापवृत्ति धर्मवृत्ति में

बदल गयी। उसने विनती करके कहा, "हे धर्ममाता, मैं कुरान की कसम खाकर कहता हूँ कि ऐसा अब कभी नहीं करूँगा। मुझे अब जीवन दान दो। मैं तुम्हारा पुत्र हूँ।" वीर बाला ने अपनी उदारता का परिचय दे उसे छोड़ दिया। अकबर उसके पैरों पर गिर पड़ा और बड़ी इज्जत के साथ उसे उसके वासस्थान पर पहुँचवा दिया।

आत्मबल के बराबर संसार में कोई वस्तु नहीं है। आत्मबल के ही प्रभाव से बड़े बड़े दुष्कर कार्यों का संम्पादन सहज ही में हो जाता है। आज कल भारत में आत्मबल का ही अभाव है। इसी से ऐसी दुर्दशा है।

नोटः—यह वीर बाला उन्हीं वीरवर पृथ्वीराज की धर्मपत्नी थी जिन्होंने माहाराणा प्रताप का सन्धिपत्र अकबर के हाथ में देख कर उनको उत्तेजित करने के लिए ओजस्विनी कविता लिख कर भेजी थी और उसमें इस पापमय 'नवरोज' का भी संकेत किया था।

वीर वालू जी चंपावत

राजा का प्रधान कार्य प्रजा की रक्षा करना है। भारत के नृपतिगण यथा-शक्ति इस नियम का पालन करते थे। प्रजा को पुत्र से भी प्रिय मानना वे अपना धर्म समझते थे। प्रजा के लिए वे प्रिय से प्रिय वस्तु को भी तृणवत् त्याग देते थे। प्रजा को खुश रखना ही उनका कर्तव्य था। तभी तो अष्टा-वक्र के मुख से भगवान वसिष्ठ का यह आदेश कि;

"जामातृ यज्ञेन वयं निरुद्धास्त्वं बाल एवासि नवञ्च राज्यम्।
युक्तः प्रजानामनुरञ्जने स्यास्तस्माद्यशो यत्परमं धनं वः॥"

को सुन कर महाराज रामचन्द्र जी ने कहा था कि,

"स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकानां मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥"

केवल कहा ही न था पर उन्होंने अपनी प्राणेश्वरी गर्भवती पत्नी को भी त्याग कर अपनी प्रतिज्ञा को सच कर बतलाया था। इसी प्रथा के अनुसार जोधपुर नरेश महाराज गजसिंह ने अपने परम प्रिय पुत्र को भी अपने राज्य से निकाल दिया था।

महाराज गजसिंह के पुत्र का नाम अमरसिंह था। वे बड़े पराक्रमी तथा वीर थे। परन्तु राजपूतों में केवल वीरता ही गणना योग्य नहीं है, क्योंकि वीरता तो राजपूतों में ऐसी स्वाभाविक होती है जैसे कि सूर्य में उष्णता और अग्नि में दाहक-गुण। अमरसिंह वीर होते हुए भी बड़े

दंगई थे। सदा अपने भाई बन्धु और सरदारों से झगड़ा कर लेते थे। प्रजा को भी व्यर्थ कष्ट पहुँचाया करते थे। जब प्रजा उनके अत्याचार से तंग आ गयी तो सब ने मिल कर महाराज गजसिंह से इसकी शिकायत की। महाराज ने मनु की इस आज्ञा से डर कर कि,

"मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया ।
सोऽचिराद्भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः ॥"

अर्थात् जो राजा मूर्खतावश अपनी प्रजा पर अत्याचार करता है, वह शीघ्र ही राज्य, जीवन और मित्रों सहित नष्ट होता है, अपने पुत्र को देश-निकाले की आज्ञा दे दी। एक दर्बार हुआ और उसी में सब सरदारों के सामने कुमर अमरसिंह को काले वस्त्र पहन कर और काले ही घोड़े पर सवार हो कर जोधपुर की सीमा से बाहर जाने की आज्ञा हुई। सब के देखते देखते अमरसिंह ने शान्त-भाव से वस्त्र धारण किये और अपने पिता के चरणों में नमस्कार करके और घोड़े पर सवार हो अपनी जन्मभूमि को अन्तिम प्रणाम किया।

दोपहर का समय है। मारवाड़ की मरुभूमि में अग्नि की चिनगारियाँ उठ रही हैं। उसी कड़ी धूप में अमरसिंह काली पोशाक धारण किये हुए काले ही घोड़े पर सवार सब शस्त्रों से सज्जित, गंभीर भाव से पूर्व की ओर धीरे धीरे जा रहे हैं। आध घंटे के पश्चात् एक दूसरा सवार राजपूती ठाट से सजा हुआ और मुस्कराता पूर्व दिशा ही में जाता दृष्टि पड़ा। उसने दृष्टि फैला कर देखा तो उसे

एक कोस की दूरी पर कुमार अमरसिंह जाते हुए देख पड़े। इस बहादुर ने भी कि जिसका नाम बालूजी चंपावत था अपने घोड़े के एड लगाई और थोड़ी ही देर में पहले सवार के बगल में जाकर कहा, "कुमर जी! मैं आपका अभिवादन करता हूँ।" कुमर ने एक कड़ी दृष्टि उसके ऊपर डाली और गंभीर भाव से पूछा, "आप क्यों आये हैं?" उसने उत्तर दिया—"केवल आपका साथ देने क्योंकि आप अकेले हैं।" कुमर ने कहा, "हाँ, अकेला तो उसको जानना ही चाहिये जिसको कि पिता, मित्र और देशवासियों ने निकाल दिया हो।" बालूजी ने उत्तर दिया, "नहीं कुमर जी, यदि राजपूत अपने वचन के पक्के होते हैं तो मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि जब तक आपके सुख के दिन नहीं आवेंगे मैं आपका साथ नहीं छोड़ूँगा।" कुमार ने कहा, "यदि ऐसा है तो आइये।"

वे दोनों ही युवा, वीर और उत्साही पुरुष थे। भविष्य के विषय में वार्तालाप करते हुए मरुस्थल को पार कर उन्होंने दिल्ली का मार्ग पकड़ा। दिल्ली पहुँचते ही वे बादशाह शाहजहाँ से मिले। तुरन्त ही वे वहाँ किसी पद पर नियत कर दिये गये। उन्होंने वहाँ इस वीरता और बुद्धिमत्ता से काम किया कि बादशाह शाहजहाँ ने प्रसन्न होकर 'नागौर'* का राजा बना दिया। अमरसिंह ने अपनी राज-

* नागौर राज्य में उस समय ६०० ग्राम थे और यह बादशाही खालसे में था। अब यह राज्य जोधपुर राज्यान्तर्गत है।

धानी नागौर में पहुँच कर, वालूजी को भी कुछ जागीर दी और उसे अपनी सेना का प्रधान सेनापति बना दिया।

इतना दुःख सहन करने पर भी अमरसिंह के स्वभाव में कुछ परिवर्तन नहीं हुआ। राजलक्ष्मी पाकर वे फिर पहले की भाँति उद्दंडता का वर्ताव करने लगे। पशुओं की लड़ाई देखने का आपको बड़ा शौक था। अच्छे हृष्ट पुष्ट बकरे आपने लड़ाई देखने के लिए रख छोड़े थे। जिस वन में बकरे चरने जाया करते थे उसमें भेड़िये ज्यादा थे। उन्होंने बहुत से बकरे खा लिये थे। इसलिए अमरसिंह ने आज्ञा दे दी थी कि एक सरदार वारी वारी से बकरों की रक्षा के लिए उनके साथ वन में जाया करे। एक दिन बालूजी से भी राव ने कहला भेजा कि आज आपकी वारी है। यह सुनते ही वीर बालूजी का मुख क्रोध से लाल हो गया और उन्होंने कह दिया कि "मैंने सूर्यवंश में जन्म लिया है और मैं राजपूत हूँ। यदि राव आज्ञा दें तो युद्ध में अपनी वीरता प्रदर्शित कर सकता हूँ। मैं कोई गड़रिया नहीं हूँ जो भेड़ बकरों को चराता फिरूँ। मैं इस आज्ञा का पालन कदापि नहीं कर सकता।" यह सुन राव ने बालूजी को अपने पास बुला कर कह दिया कि "हाल में बादशाह के मित्र होने के कारण युद्ध की कुछ सम्भावना नहीं। मेरे पास तो जो रहेगा उसको यही कार्य करना पड़ेगा।" बालूजी ने भी उत्तर में कह दिया कि "विपत्ति में आपका साथ देने की प्रतिज्ञा मैंने की थी। अब आपकी विपत्ति की निशा दूर हो गयी। अब आपके सुख के दिन हैं। आप अब नरेश हुए

हैं। जो सेवा मैं आपकी कर सकता हूँ उसकी आपको इस समय आवश्यकता नहीं है। इसलिए मैं अब आपसे विदा होता हूँ।"

यह कह कर वीर बालूजी ने बीकानेर की ओर प्रस्थान किया। बीकानेर नरेश महाराज करणसिंह ने उन्हें बड़े आदर और प्रीति भाव से अपने पास रख लिया और कुछ जागीर भी दे दी। वे वहाँ बहुत दिन न रहने पाये थे कि उनका नृपप्रिय होना अन्य सरदारों की आँखों में कंटक की भाँति खटका और वे उन्हें निकालने का प्रयत्न करने लगे। एक दिन महाराज ने एक फल जिसको मारवाड़ी में मतीरो कहते हैं बालूजी को भेजा। यह सुअवसर पा सरदारों ने बालूजी को समझा दिया कि "जिसको निकालना होता है उसको महाराज यह फल भेजा करते हैं। इसका नाम ही 'मतीरो' है अर्थात् 'मत् रहो'। महाराज आपको रखना नहीं चाहते हैं इसीलिए अपने मुख से न कह कर यह फल भेजा है।"

स्वाभिमानी बालू से यह कब सहन हो सकता था। तुरन्त ही अपने घोड़े पर सवार हो उदयपुर चल दिये। महाराणा ने उन्हें बड़े सत्कार से अपने पास रख लिया। उस समय वीर पुरुषों की सब को चाह थी। इसी लिए वीर लोग जहाँ जाते थे वहीं उनका यथोचित सम्मान होता था। आज कल की भाँति उस समय दुराचारियों और खुशामदियों का बाजार गर्म न था। इसी लिए वीर बालूजी के इस प्रकार चुपचाप चले जाने से बीकानेर महाराज को

बहुत रंज हुआ परन्तु उनके चले जाने का उन्हें कुछ भी कारण विदित नहीं हुआ।

उदयपुर में भी बहुत दिवस न रहने पाये थे कि यहाँ भी द्वेष की अग्नि भड़क उठी। सरदारों ने बालूजी का प्राणान्त ही करना चाहा। संसार में द्वेष कैसी बुरी वस्तु है। क्षत्रियों का तो इसी विकट शत्रु ने नाश कर दिया। आपस के द्वेष ही के कारण वीर भारत की पवित्र भूमि में विदेशी जातियों का पदारोपण हुआ। इसी द्वेष के कारण भारत की संतान जो एक समय धन कुवेर की पदवी ग्रहण करने योग्य थी आज दाने दाने को मुहताज है और दूसरों का मुख ताकती है।

एक दिन सिंह के आखेट में अवसर पाकर किसी एक सरदार ने महाराणा जी से कहा कि "वीर चंपावत को कोई अवसर अपनी वीरता दिखलाने का अब तक नहीं मिला है इस लिए उनकी इच्छा है कि वह केवल एक फर्सा लेकर सिंह का सामना करें।" महाराणा जी ने विश्वास कर लिया और कह दिया, "यदि ऐसा है तो उनसे कह दो कि मेरी आज्ञा है।" उसी सरदार ने बालूजी से आकर कहा कि महाराणा साहब की आज्ञा है कि "तुम केवल एक फर्सा लेकर सिंह का शिकार करो।" बालूजी ने शान्त-भाव से 'बहुत अच्छा' कह कर एक फर्सा हाथ में लिये हुए सिंह को जा ललकारा। यह देख कर सिंह भी उन पर झपटा। बालूजी सिंह को पास आते देख पैतरा बदल एक तरफ खड़े हो गये और सिंह के ज़मीन पर पड़ते ही एक ऐसा हाथ मारा कि उसका मस्तक दो टुकड़ों में विभक्त हो गया

और वह जमीन सूँघने लगा। सिंह को वहीं पड़ा छोड़ कर वीर चंपावत महाराणा के पास आकर बोला, "महाराज! इस प्रकार मेरे बल और साहस की परीक्षा लेने से आपको क्या नफा हुआ? यदि सिंह मुझे पकड़ पाता तो मैं जान से जाता और आपका कोई भी अभीष्ट सिद्ध न होता। यह बातें असभ्य नरेशों की है जिनके सामने मनुष्य और पशु के प्राण बराबर हैं। हमारे प्राण तो आपको स्वतंत्र बनाने में स्वाहा होने चाहिए न कि इस प्रकार के खेल-तमाशे में।" इसके उत्तर में राणा जी यह कह कर कि "मैं ने सोचा था कि तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है" चुप हो गये। यह देख कर बालू जी अत्यंत खिन्न हुए और वहाँ से चल दिये।

तीनों स्थानों पर एक सा ही बर्ताव देख कर बालू जी को राजपूत नरेशों से एक प्रकार की घृणा हो गयी। इसलिए वे अब की बार अपने भाग्य की परीक्षा लेने को दिल्ली पहुँचे। वहाँ पर बादशाह की कृपा से पाँच सौ सवारों के नायक बनाये गये। वहाँ पर कुछ दिवस तक शांति से कालयापन करते रहे। इसी समय में एक घोड़ों का सौदागर उदयपुर आया। महाराणा जी ने कई घोड़े खरीद किये। उनमें एक अद्वितीय घोड़ा था। महाराणा ने अपने सरदारों से पूँछा, कि "यह घोड़ा किस वीर के लायक है।" किसी ने किसीको बतलाया और किसी ने किसी का नाम लिया। अन्त में राणा जी ने कहा, "नहीं यह घोड़ा केवल वीर बालू जी के योग्य है।" यह कह एक मनुष्य के साथ उसे चंपावत के पास यह कह कर भेज दिया "हे वीर चंपावत! तेरे तुल्य वीर

तू ही है। इस लिए यह घोड़ा मैं खुश होकर तुमको बखशिश करता हूँ। यह तेरे ही योग्य है।"

इसी अवसर में आगरे में एक दुर्घटना संघटित हो गयी थी। नागौर के अमरसिंह और बीकानेर के महाराज में सीमा के विषय में कुछ झगड़ा खड़ा हो गया। बादशाह की ओर से झगड़ा तै करने को सलावत खाँ नियत हुआ। उसने ठीक सीमा नियत करके अमरसिंह पर कुछ जुरमाना किया। बहुत दिन हो गये परन्तु अमरसिंह ने वह जुरमाना अदा नहीं किया। एक दिन दरबार के समय सलावत खाँ ने अमरसिंह को याद दिलायी कि वह जुरमाना अब तक वसूल नहीं हुआ है। यह सुनते ही अमरसिंह ने कड़क के कहा कि "केवल अपनी तलवार से जुरमाना अदा करूँगा।" मूर्खता से मदान्ध सलावत खाँ ने उत्तर में कुछ मर्मच्छेदी अपशब्द कहे। अमरसिंह यह कब सुनने वाले थे। शीघ्र ही अपनी तलवार से दरबार ही में बादशाह के पास खड़े सलावत खाँ के दो टुकड़े करके उसे उसकी मूर्खता का मज़ा चखा दिया। यह देख कर बादशाह शाहजहाँ ने गुस्से में आकर अमरसिंह से कुछ अपशब्द कह डाले। इन शब्दों ने अमरसिंह की क्रोधाग्नि में घी की आहुति का काम किया। क्रोध-क्षुभित क्षत्रिय ने सलावत खाँ के रक्त में भीगी हुई अपनी तलवार बादशाह पर चलायी। बादशाह ने भाग कर प्राण बचाये। यह देखकर दरबारी लोग अमरसिंह पर टूट पड़े। वीर अमर-सिंह केशरी की भाँति तलवार चलाता पीछे को हटा। पाँच मुसलमान सरदारों को सलावत खाँ का साथी बना कर वह

वहाँ से साफ निकल गया। परन्तु दुष्ट विश्वासघाती अर्जुनसिंह गोड़ ने जो कि अमरसिंह का साला था, बादशाह का कृपापात्र बनने की इच्छा से उसका पीछा किया। अमरसिंह ने उसे अपना सम्बन्धी जान कर कुछ भी आशंका न की। उस दुष्ट ने पीछे से अपने बहनोई पर तलवार का वार करके उसे स्वर्ग दिखलाया और साथ ही अपनी बहिन को विधवा बना दिया।

अमरसिंह की मृत्यु की खबर सुनते ही बादशाह ने आज्ञा दे दी कि "अमर के मृत शरीर का अग्नि-संस्कार न होने पावे। उसे किले ही में पड़ा रहने दो जिससे गीध और कौवे उसका मास खावें।"

जब यह दुःखदाई वृत्तान्त अमर की सती रानी के कर्ण-गोचर हुआ तो उसे हार्दिक शोक हुआ। उसने अपने सेनापति भान जी कंपावत को बुला कर कहा, "जैसे बने तैसे मेरे पति का शव मुझे लादो जिससे मैं उनके साथ सती होकर स्वर्ग में सुख भोग करूँ।"

भान जी पाँच सौ सवार साथ लेकर आगरे की ओर चल पड़ा। आगरे के सुरक्षित किले में से अमर की लाश को निकाल लाना असाध्य सोच कर उसने वीर बालू जी से सहायता के लिए कहला भेजा कि "हे वीर क्षत्रिय! क्या यह शर्म और निन्दा की बात नहीं है कि मेरे और आपके रहते अमरसिंह की मृत देह का मृतक-संस्कार न होने पावे और दुष्ट बादशाह की आज्ञा से गीध और कौवों को उसका मांस खिलाया जाय। रानी जी सती होना चाहती हैं। मैं अकेला हूँ इससे आप जैसे वीर की सहायता चाहता हूँ।"

इस सन्देशे को सुनते ही क्षत्रियोचित प्रसन्नता से बालू जी खड़े हो गये और अपने वीरों को साथ लेकर चल दिये। जिस समय वीर बालू जी आत्मानुराग को भूले हुए एक वीरोचित कार्य में अपने प्राण की आहुति देने को अपने कंप से निकले ही थे कि महाराणा का भेजा हुआ घोड़ा और सन्देशा मिला। पत्र पढ़ कर वीर बालू अपने घोड़े से उतर उस पर चढ़ गये और सहसा उनके मुख से ये वाक्य निकल पड़े, "धन्य मेवाड़ाधिपति, आप ही भारतवर्ष तथा क्षत्रिय-जाति के दृढ़स्तंभ स्वरूप हैं।" उस दूत की ओर देख कर चंपावत ने कहा, "मुझे इस समय इतना अवसर नहीं कि राणा जी को धन्यवाद का पत्र लिख सकूँ, परन्तु मैं क्षत्रिय-व्रत की शपथ खाकर कहता हूँ कि भविष्य में जब कभी राणा साहब संकट में पड़ेंगे तब मैं अवश्यमेव मरते जीते उनको साबित कर दूँगा कि एक वीर मनुष्य क्या क्या कर सकता है। उसी दिन मैं इस कृतज्ञता के ऋण से उऋण होऊँगा।"

यह कह कर वह शीघ्रता से भान जी कंपावत के पास पहुँचा। उससे मिल कर वे अमरसिंह की लाश को निकाल लाने का उपाय सोचने लगे। निदान चंपावत ने कहा कि "हम को इस समय दो कार्य करने हैं। एक तो नागौर नृपति अमरसिंह की लाश किले में से लाना और दूसरे रानी जी के लिये सती होने की सुविधा करना जिससे कोई विघ्न उपस्थित न हो। इनमें से आप कौन से कार्य का भार अपने ऊपर लेते हैं।" भान जी कंपावत ने कहा, "आप की वीरता प्रसिद्ध है और आप वीर हैं इस लिए पहले कार्य का

भार आपके ऊपर है और दूसरे कार्य का सम्पादन मैं अपनी योग्यतानुसार पूर्णरीति से कर दिखलाऊँगा।"

'बहुत अच्छा' कह कर वीर बालू जी ने अपने सवारों के साथ किले पर आक्रमण किया। शीघ्र ही पीछे के फाटक को तोड़ किले भीतर जहाँ पर लाश पड़ी थी पहुँच और लाश को घोड़े पर रख किले के बाहर शीघ्रता से लौट आये। यह देखते ही किले में गड़ बड़ी मच गयी और एक सेना सज कर उनका पीछा करने को निकली। इस अवसर में बालू जी ने लाश चिता पर जा रक्खी और रानी लाश के सिर को गोद में रख कर बैठ गयी। अग्नि लगा दी गयी। ब्राह्मण लोग मृतक-संस्कार की यथोचित विधि करने लगे। इतने में मुसलमानों की सेना भी आ पहुँची। परन्तु बालूजी और भानजी अपनी अपनी छोटी सेना लेकर चिता की ओर उनका बढ़ाव रोकने के लिए पहुँच गये थे। वे उस सेना पर क्षुभित सिंहों की भाँति टूट पड़े और खड्गों से शत्रुओं का मस्तक छेदन कर अपने हृदय की ताप बुझाने लगे। एक बार मुसलमानों को पीछे हटना पड़ा। परन्तु ८०० मनुष्य हजारों प्रबल शत्रुओं का सामना कब तक कर सकते थे। इन वीर पुरुषों को अपने प्राणों का कुछ भी लोभ न था। उनकी अन्तिम अभिलाषा यही थी कि रानी निर्विघ्न सती हो जावें। घावों से जरजरी-भूत होकर वीर बालूजी और भानजी भूमि पर गिर पड़े। इस अवस्था में भी चिता की ओर आपकी दृष्टि गयी और दोनों ने एक दूसरे की ओर निराशा की दृष्टि से देखकर दीर्घ निश्वास लिये। इतने ही में एक ब्राह्मण चिता की ओर से आता दृष्टि पड़ा। उसने कहा,

"आपकी वीरता से सब कार्य निर्विघ्न समाप्त हो गया।" इतना सुनते ही दोनों के मुख कांतिमय हो गये और उनके ओठों पर मुसकराहट झलकने लगी। उनके नेत्र बन्द हो गये। एक हजार वीरों में से एक भी मनुष्य जीवित न बचा परन्तु उनके यश की वार्ता अब तक बड़े आदर से कही जाती है।

इस घटना के कई वर्ष बाद औरंगजेब अपने बाप को कैद कर बादशाह बन बैठा। उसने किसी बात पर नाराज होकर मेवाड़ पर चढ़ाई की। देवरी नामक स्थान पर एक लोम-हर्षण युद्ध हुआ जिसमें महाराणा की विजय हुई। कहते हैं कि इसी अवसर पर राणा जी ने बालूजी का स्मरण किया परन्तु फिर निराशा से बोले, "बालूजी की तो मृत्यु हो चुकी है वह कैसे आ सकता है।" थोड़ी ही देर में एक सवार बालू जी की ही सूरत का आता हुआ दृष्टि पड़ा। पास पहुँचते ही वह मुसलमानों पर बिजली की भाँति टूट पड़ा और तीन घंटे तक वीरता से लड़ कर मुसलमानों को देवरी से बाहर निकाल दिया। युद्ध के बाद बालू जी की लाश घाटी के दरवाजे पर पड़ी पाई गयी।

उसी स्थान पर एक छतरी वीर बालूजी का स्मरण अब तक दिला रही है और आत्मत्याग तथा दृढ़ प्रतिज्ञता का गौरव बढ़ा रही है। उसके ऊपर मेवाड़ी भाषा में लिखा है जिसका आशय यह है कि यहाँ पर वीर बालूजी की मृत्यु हुई है।

धौलपुर का युद्ध

जपूतों का चरित्र कैसा अद्भुत है। किसी जाति के इतिहास को पढ़ जाइये परन्तु राजपूतों की सी वीरता, स्वाभिमान, राज-भक्ति, कार्य-पटुता, स्वदेश-प्रेम, जाति-गौरव और धर्म-निष्ठा के उदाहरण शायद ही कहीं देखने में आवें। वीरता में तो यह जाति अद्वितीय गिनी ही जाती है परन्तु इसकी अटल राज-भक्ति भी सर्वदा सराहनीय है। जिसकी रक्षा का एक बार प्रण कर लिया उसके लिए तन मन धन और प्राणों की आहुति करना तो उनका एक स्वाभाविक धर्म है। दगाबाज़ी, बेईमानी और विश्वास-घातकता से तो वे बिल्कुल ही अनभिज्ञ हैं। यही कारण था कि शाहजहाँ के बुढ़ापे में जब कि उसके पुत्र तक राज्य के लोभ से उसके प्राणों के गाहक बने हुए थे, वीर राजपूत ही अपनी आत्माओं की आहुति करके राज-भक्ति तथा वीरता के अनुपम उदाहरण छोड़ते हुए आमरणान्त उसकी रक्षा के लिए कटिबद्ध रहे।

बादशाह शाहजहाँ के बीमार होने की वार्ता जब उसके पुत्रों के कान तक पहुँची तो प्रत्येक पुत्र दिल्ली की राजधानी पाने का प्रयत्न करने लगा। दुष्टराज औरंगज़ेब जो कि उस समय दक्षिण में था दिल्ली प्रयाण करने की तैयारी करने लगा। जब शाहजहाँ को अपने पुत्रों का दुष्ट अभिप्राय

मालूम हुआ तो अपनी रक्षा का कहीँ उपाय न देख कर उसने उदारहृदय वीर राजपूतोँ की ही शरण ली ।

बूंदी नरेश छत्रसाल उस समय औरंगज़ेब के साथ मेँ थे । बादशाह ने उन्हेँ बुला भेजा । वीर हाड़ा अपने बादशाह की आज्ञा पाते ही वहाँ से चल दिये । औरंगज़ेब ने उन्हेँ रोकने का बहुत प्रयत्न किया परन्तु वह छत्रसाल की बुद्धि-मानी के सामने कृत कार्य नहीँ हुआ । छत्रसाल अपनी राज-धानी बूंदी पहुँच कर दिल्ली जाने की उचित सामिग्री करने लगे ।

इसी समय मेँ औरंगज़ेब से जोधपुर नरेश महाराज जशवंतसिंह की मुठभेड़ फतेहाबाद के मैदान पर हो गयी । घोर युद्ध आरम्भ हो गया । औरंगज़ेब कट्टर मुसलमान था परन्तु दाराशिकोह जिसकी ओर से महाराज जशवंतसिंह लड़ रहे थे रहमदिल आदमी था और मुसलमानी पक्षपात से बिल्कुल आजाद था । इस लिए मुसलमान लोग उससे नाराज थे और चाहते थे कि औरंगज़ेब ही बादशाह हो । बहुत से मुसलमान तो औरंगज़ेब के पक्ष मेँ जाहिरा हो गये थे और बहुत से गुप्तरीति से लड़ रहे थे । ऐसी दशा मेँ केवल राजपूत ही शत्रुओँ का मान मर्दन कर रहे थे । महबूब पर आरूढ़ जशवंत हाथ मेँ बर्छा लिए औरंग और मुराद की फौज का संहार करने लगा । भूखे सिंह की भाँति वीर जशवंत जिधर निकल जाता था उधर ही शत्रुओँ मेँ हाहाकार मच जाता था । जशवंत और उसका घोड़ा महबूब खून से लथ पथ हो रहे थे परन्तु तो भी वह अपने स्वामी के कार्य मेँ मन लगाये रहा । युद्ध का अन्त होते होते दस हज़ार मुसलमानोँ को

वीर राजपूतों ने काट गिराया और जशवंतसिंह के सत्तरह सौ राठौर तथा बहुत से अन्य राजपूत भी मारे गये। औरंग और मुराद तकदीर से ही बच गये। दूसरे दिन औरंगज़ेब की हिम्मत न पड़ी और जशवंतसिंह की भी युद्ध सामग्री कम रह गयी थी। इस लिए उन्होंने जोधपुर को प्रस्थान कर दिया।

इस प्रकार अपनी वीरता का परिचय देकर वीर जशवंत जब अपनी राजधानी में पहुँचा तो उसकी रानी को यह सुन कर कि स्वामी लड़ाई छोड़ कर चले आये हैं असीम दुःख हुआ। उसने द्वारपालों को आज्ञा दे दी कि "फाटक बन्द कर लो और रण-विमुख पुरुष को महल में प्रवेश मत करने दो। वह मेरा पति नहीं है क्योंकि मेवाड़ के राणा का दामाद और जोधपुर का राजा कायर नहीं हो सकता।" निदान आठ दिन तक उसने राजा को अपने पास आने की आज्ञा नहीं दी। अन्त को बहुत कहने सुनने के बाद फाटक खुला और जशवंतसिंह भीतर आये।*

रानी के उस समय के उद्गारों को कविवर मैथिलीशरण ने कविता में बड़ी योग्यता से दरसाया है। उसी कविता को अपने पाठकों के विनोदार्थ हम यहाँ पर 'सरस्वती' से उद्धृत करते हैं—

---

* नोटः—फरासीसी यात्री वर्नियर उस समय वहाँ था। इस घटना का वह साक्षी है। उसने लिखा है कि "राजपूत रमणियाँ अत्यन्त साहसी और विशाल हृदय की होती हैं।"

" हे ना—नहीं नाथ नहीं कहूंगी,
अनाथिनी होकर ही रहूंगी।
होते कहीं जो तुम नाथ मेरे,
तो भागते क्या तुम पीठ फेरे ॥"

"यथार्थ ही क्या मुँह को छिपाये,
संग्राम से हो तुम भाग आये ?
धिक्कार है, हा ! अब क्या करूँ मैं ?
रक्खी कहां मौत कि जो मरूँ मैं ॥"

"हा ! पीठ वैरी-दल को दिखा के,
त्यों हार माथे पर यों लिखा के।
आये दिखाने मुँह हो यहां क्या ?
भला बनेगा तुम से कहां क्या ? ॥"

"परन्तु हो कर मैं वीर बाला,
जो लोक में हूं करती उजाला।
देखूं तुम्हारा मुख आज कैसे ?
सहूं कहो तो यह लाज कैसे ? ॥"

"आये यहां क्या छिपने घरों में ?
या रानियों के घन घांघरों में।
परन्तु भागे तुम भीरु ज्योंही,
हुए कहो क्या हत वे न त्योंही ?"

"थी मृत्यु की जो इस भांति भीति,
जो थी मिटानी सब रीति नीति।
तो जन्म क्यों सत्कुल में लिया था ?
क्यों व्याह राना-कुल में किया था ? ॥"

"जयाभिधआ को न वरा गया जो,
न युद्ध का सिन्धु तरा गया जो।
तो क्या मरा भी न गया समक्ष ?
हूवा सभी हा ! तुमसे सपक्ष ॥"

"राठौर ! क्या लाज तुम्हे न आई,
जो कीर्ति दोनों कुल की मिटाई ?
क्या देह से है यश हाय ! छोटा ?
या मृत्यु से है अमरत्व खोटा ? ॥"

"संग्राम में जो तुम काम आते,
तो लोक में निश्चल नाम पाते।
मैं भी सती होकर धन्य होती,
न क्षत्रिया होकर आज रोती ॥"

"न भाग्य में था यह किन्तु मेरे,
दुर्दैव ! हैं ये सब काम तेरे।
तू जो करे सो सब ठीक ही है,
मनुष्य-विश्वास अलीक ही है ॥"

"मा मेदिनी ! तू फट, मैं समाऊँ;
कुकीर्ति से जो अब त्राण पाऊँ।
न लोक में मैं यदि जन्म पाती,
तो भीरु-भार्या फिर क्यों कहाती ॥"

"नहीं नहीं, मैं यदि भीरु-भार्या,
तो कौन होगी फिर और आर्या।
हां, है तुम्हीं ने कुल-लाज खोई,
परन्तु मेरे तुम हो न कोई ॥"

"सीसोदियों के वन के जमाई,
है कीर्ति अच्छी तुमने कमाई।
आई तुम्हें लाज न नाम की भी !
रक्षा न होगी अब धाम की भी ॥"

"सुना तुम्हें था वरवीर मैंने,
सौंपा तभी था स्वशरीर मैंने।
यथार्थता किन्तु मुझे तुम्हारी,
अभी हुई है यह ज्ञात सारी ॥"

"विशाल वक्षस्थल दीर्घभाल,
आजानु लम्बे युग बाहु जाल ;
थे देखने ही भर को तुम्हारे !
ज्यों चित्र में अंकित अंग सारे ॥"

"या क्षत्रियों का वह उष्ण रक्त,
हुआ यहां लों अब है अशक्त।
बहा सके जो न विपत्तियों को,
दुराग्रही गो-धन-भक्षियों को ॥"

"दैवात कभी शत्रु कुदृष्टि लावैं;
सोत्साह मेरे हरणार्थ आवैं।
तो क्या मुझे भी तुम छोड़ भागो ?
आश्चर्य क्या जो मुँह मोड़ भागो ॥"

"विश्वास क्या भीत पलातकों का ?
सुकर्म-वर-धर्म-विघातकों का।
कर्त्तव्य से जो च्युत हो चुके हों,
क्या है जिसे वे न डुबो चुके हों ? ॥"

"जाओ यहां से तुम लौट जाओ;
तुम्हें यहां स्थान नहीं कि आओ।
हो शून्य तो भी यह सिंह पौर,
है गीदड़ों को इस में न ठौर॥"

"चाहे अवज्ञा करके तुम्हारी,
मैंने किया हो अपराध भारी।
परन्तु मैं होकर क्षत्रियाणी,
कैसे कहूं हा न यथार्थ वाणी?॥"

"मेरा तुम्हारा न मिलाप होगा;
हा! शान्त कैसे यह ताप होगा।
सर्वेश लेवें सुध शीघ्र मेरी,
देवें मुझे मृत्यु करें न देरी॥"

अब अपने वृद्ध पिता से राज-लक्ष्मी छीनने में औरंगज़ेब को कोई भी रुकावट नहीं रही। परन्तु इसके पहले कि वह दिल्ली के तख़ को सुशोभित करे उसे बूँदी नरेश छत्रसाल से धौलपुर के मैदान में मुकाबला करना पड़ा। इस युद्ध में प्रधान सेनापति दाराशिकोह था। वीर हाड़ा केशरिया वस्त्र धारण करके बादशाह की फौज की हरौल में जा डटे। राज-भक्ति का अटल सिद्धान्त उनके सिर में चक्कर खाने लगा। वीर रस का अपूर्व जोश चढ़ आया। लड़ कर मर जाना अथवा विजय करके शाहजहाँ को शत्रु-रहित कर देना इन दो विचारों के सिवाय तीसरा विचार उनके हृदय में न था। दारा हाथी पर सवार था। घोर घमसान होने लगा। वीर राजपूत अपना धर्म समझ के बड़े जोश से

लड़ने लगे। हाड़ा लोग इस वीरता से लड़े कि विजयलक्ष्मी इन्हींकी ओर झुकी परन्तु इतने ही मेँ दारा का कहीँ पता न चला। दारा शिकोह के इस प्रकार अंतर्धान होने से शाही फौज मेँ हलचल मच गयी। सैनिक लोग भागने लगे। जब कि वीर छत्रसाल ने देखा कि फौज भागी जाती है तो वे अपने सैनिकोँ को संकेत करके बोले, "वीर राजपूतो! क्षत्रिय होकर जो रणभूमि से भागे उसे धिक्कार है। मेरे स्वामिभक्त वीरो! मैँ इस युद्ध मेँ अचल भाव से स्थिर होकर लड़ूँगा। जीते जी मैँ हार कर कभी भी मैदान नहीँ छोड़ सकता, जीत कर ही घर को लौटूँगा।" इस प्रकार अपने वीरोँ को उत्साहित करके हाथी पर सवार हो गये और हर तरह से अपने वीरोँ को उत्तेजित करने लगे।

दैव योग से एक गोली हाथी के आकर लगी और वह चिग्घाड़ कर भागा। इस प्रकार हाथी को भागते देख कर वीरवर छत्रसाल उस पर से यह कह कर कूद पड़े कि "मेरा हाथी शत्रुओँ को पीठ दिखलावे तो दिखलावे परन्तु उसके सवार की पीठ देखने का सौभाग्य शत्रुओँ को कदापि न होगा।" तब घोड़े पर सवार होकर वे लड़ने लगे। जिधर निकल गये उधर मैदान ही तो कर दिया। मुराद को देखकर वे उस पर टूट पड़े और अपने भाले से उसका प्राणान्त करने को ही थे कि दुर्भाग्य से एक गोली उनके मस्तक पर लगी और वे घोड़े की पीठ पर से गिर पड़े।

महाराज छत्रसाल के पीछे उनके सुपुत्र भारतसिंह ने बड़ी वीरता से शत्रुओँ का सामना किया और अन्त को अपने पिता का स्वर्ग तक साथ दिया।

इस युद्ध में बड़े बड़े वीर काम आये। बूँदी के राज-घराने का एक भी मनुष्य जीता न बचा। छः भाई अपना स्वामि-धर्म दिखा कर स्वर्ग को गये।*

---
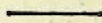
* नोट—टाड साहब लिखते हैं कि:—"Thus in the two battles of Oojein and Dholpur, no less than twelve princes of the blood together with the head of every Hara clan maintained their fealty even to death. Where are we to look for such an example?"

"The annals of no nation on earth can furnish such an example, as an entire family, six royal brothers stretched on the field, and all but one in death."

चूड़ावत सरदार

जिस समय औरंगज़ेब के कठोर अत्याचारों के कारण प्रायः समस्त भारतवर्ष में हाहाकार मच रहा था, निस्सहाय निरवलम्ब बेचारे हिन्दू मुसलमान बनाये जाते थे, उस समय उदयपुर की वीरगादी पर वीर श्रेष्ठ महाराणा राजसिंह जी विराजमान थे। इस समय तक मेवाड़ में एक प्रकार शान्ति थी। परन्तु राजसिंह के गद्दी पर बैठते ही मेवाड़ में फिर तलवारों की झन्झनाहट और वीरों की वीर-हुँकार सुन पड़ी। राणा राजसिंह वीर, साहसी और तेजस्वी थे। बचपन से ही वे स्वजाति और स्वदेश प्रेमी थे।

अकस्मात् एक घटना ऐसा संघटित हुई कि जिससे महाराणा राजसिंह को औरंगज़ेब के विरुद्ध तलवार पकड़नी पड़ी। मारवाड़ राज्य में एक रूप नगर नामक स्थान था। वहाँ के सरदार की प्रभावती नामक कन्या परम रूप लावण्यवती थी। थोड़े ही दिनों में उसकी सुन्दरता का समाचार औरंगज़ेब के कान तक पहुँचा। यह सुनते ही उसके पाने की उसके हृदय में उत्कट इच्छा हो गयी।

उसने दूत द्वारा रूप नगर यह सन्देशा कहला भेजा कि "पन्द्रहवें दिन में सेना सहित प्रभावती को ब्याहने रूप नगर पहुँच जाऊँगा। इस लिए विवाह की सब तैयारी दुरुस्त करो। यदि राजी से विवाह न करोगे तो कुमारी को छीन कर उससे शादी करूँगा।" बादशाह का यह सन्देशा सुन कर राजकुमारी प्रभावती के प्राण सूख गये। वह विचारने लगी

"अब मैं क्या करूँ और क्या कर सकती हूँ। जिन धर्म-शत्रु तुर्कों से मैं सदा घृणा किया करती थी, क्या मुझे उन्हीं का स्पर्श करना पड़ेगा ? क्या उन्हीं के साथ मुझे विवाह करना पड़ेगा ? हाय हाय ! यह मुझ से कदापि नहीं होगा। हे ईश्वर ! अब मैं किस की शरण जाऊँ। हाय ! यदि मेरा जन्म ही न होता तो काहे को यह मर्मच्छेदी समाचार सुनना पड़ता। हे ईश्वर ! विना आपके और कोई मेरा सहायक नहीं है। हे जगन्नियंता परमात्मन् ! इस अबला को कोई ऐसा उपाय बतलाइये जिससे इसके धर्म की रक्षा हो।"

सोच विचार कर उसने अपने काका को बुलाया और इस विषय में उनकी राय पूँछी। उसके काका ने कहा, "मुझे तो केवल दो उपाय तेरी धर्म-रक्षा के देख पड़ते हैं। एक तो यह कि अपनी छोटी सी सेना लेकर जब तक प्राण रहें तेरी रक्षा करूँ। परन्तु बादशाह की सेना के सामने मेरी फौज कुछ नहीं है। अन्त में फिर तेरी रक्षा होनी असम्भव है। दूसरा उपाय सर्व श्रेष्ठ और बुद्धिमत्ता से भरा हुआ है। वह यह है कि यदि तू महाराणा राजसिंह से विवाह करना स्वीकार करे तो वे तुझे अवश्य अभयदान दे सकते हैं। आज कल सिवाय उनके कोई भी ऐसा वीर नहीं है जो बादशाह का सामना करे। यदि तेरी इच्छा हो तो आज ही साड़िनी सवार द्वारा पत्री उदयपुर भेजूँ।" यह सुन कर कुमारी बोली, "काका जी, मेरा विचार तो सदा ब्रह्मचारिणी रह कर भगवद्भजन में जन्म बिताने का था। परन्तु क्या किया जाय समय ऐसा ही है। आत्म-हत्या के पाप से बचने के लिए राणा जी से विवाह करना ही अच्छा है। यदि मैं ऐसे वीर

स्वतन्त्रताप्रिय और स्वाभिमानी राजकुल में ब्याही जाने से मना करूँ तो संसार में मुझ सी अभागिनी और मूर्खा और कौन होगी ?" तदुपरान्त दोनों ने एक एक पत्र लिख कर साड़िनी-सवार के हाथ उदयपुर भेजे।

दूसरे दिन ही सवार ने दरबार में पहुँच कर महाराणा साहब को दोनों पत्र दिये। राणा जी पत्रों को पढ़ कर सोचने लगे कि क्या करना चाहिए। राणा जी को गंभीर विचार में पड़े देख कर पास बैठे हुए वीर चूड़ावत सरदार ने महाराणा साहब के विचार-ग्रस्त होने का कारण पूँछा राणा जी ने बिना कुछ कहे दोनों पत्र उनके हाथ में देकर जोर से पढ़ने की उन्हें आज्ञा दी जिससे सब सरदार सुनें। राजकुमारी के पत्र का कुछ अंश इस प्रकार था। "महाराज! राज-हंसी को बगले का साथ देना पड़ेगा? या पवित्र राजपूत कुल की कामिनी क्या म्लेच्छ की दासी होगी? महाराज! मैं आप से सच कहती हूँ कि यदि आप मुझे इस संकट से न उबारेंगे—म्लेच्छ से मेरी मान-मर्यादा की रक्षा न करेंगे—तो मैं अवश्य आत्म-हत्या कर लूँगी।" इस जोश भर देने वाले पत्र को पढ़ कर वीर-शिरोमणि चूड़ावत सरदार का अंग प्रत्यंग क्रोध से काँपने लगे। भला इस प्रकार अत्याचार की खबर पाकर किस वीर-हृदय स्वाभिमानी मनुष्य के क्रोध की अग्नि न भड़क उठती। वीर चूड़ावत सरदार बोले, "अन्नदाता जी, इसमें चिन्ता की क्या बात है। वह कुमारी आप को मन से वर चुकी है। क्या आप उससे विवाह न करके उसे म्लेच्छों को पकड़वा देंगे? क्या उदयपुर के हिन्दूपति महाराणा की रानी को एक

यवन व्याह ले जायगा ? जिस प्रतिष्ठा के लिए हमारे पूर्वजों ने रक्त की नदियाँ बहाई क्या उस प्रतिष्ठा को राणा राजसिंह खो देंगे ? क्या राणा युद्ध में प्राण त्यागने से डरेगा ! क्या वह वीर प्रताप की भाँति वन वन फिरने से घबड़ावेगा ? क्या प्राण लोभ से वीर सीसौदिया तिलक एक शरणागत अबला की रक्षा नहीं करेगा ? क्या पृथ्वी पर से क्षत्रियत्व उठ गया है ? आप क्यों विचार में पड़ गये हैं? एक दिन सब को मरना है। यदि युद्ध में प्राण जायँगे तो इससे अच्छा क्षत्रिय के लिए और कौन सा अवसर आवेगा।"

राणा जी वीर सरदार को प्रशंसा करके बोले, "मेरा भी ऐसा ही विचार है परन्तु हम दोनों युवा हैं। इस लिए किसी वृद्ध पुरुष से परामर्श कर लेना चाहिए जिससे पीछे कोई यह न कहे कि लड़कपन से राज्य खो दिया।" राणा जी ने वृद्ध अनुभवी पुरुषों को बुला कर पत्र दिखलाये और पूछा कि वे क्या परामर्श देते हैं। यह बात सुनते ही सब के सब एक स्वर होकर बोल उठे, "बप्पा रावल के वंशज कैसी ही आपत्ति पड़ने पर मुख से 'नाहीं' नहीं कहते। यदि राणा साँगा और वीर प्रताप का वंशज शरणागत की रक्षा न करेगा तो पृथ्वी रसातल को चली जायगी। क्या यह सम्भव है कि राणा को मन से वरने वाली कन्या को देश-शत्रु और धर्म-शत्रु तुर्क ले जावें। हम लोग वृद्ध हैं तो क्या, कभी कायरपन की सलाह नहीं दे सकते। इसलिए विलम्ब करने की कुछ आवश्यकता नहीं, अपना कर्त्तव्य पालन करो।" राणा जी ने चूड़ावत की ओर देख कर कहा,

"वृद्ध पुरुषों ने जो कहा सो बहुत ठीक है। परन्तु मुझे एक आशंका होती है कि हम लोग सेना लेकर रूपनगर राठौरनी जी को ब्याहने जायँगे तो सही पर यदि इस अवसर में बादशाह भी वहाँ आ पहुँचा तो घोर घमसान मच जावेगा। यदि हम लोग सब के सब मारे गये तो हमारा मनोर्थ पूर्ण न होगा और राठौरनी जी को भी आत्मघात करना पड़ेगा। चूड़ावत सरदार बोला, "महाराज ! मेरा विचार है कि आप थोड़ी सी फौज लेकर रूपनगर ब्याहने पधारें और समस्त सेना के साथ मैं बादशाह को आगरे से रूपनगर के मार्ग में रोकता हूँ। मैं शपथ खाकर कहता हूँ कि जब तक आप ब्याह करके उदयपुर न लौट आवेंगे, तब तक मैं बादशाह को आगे न जाने दूँगा।" सब सरदारों ने इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया।

बस फिर क्या था वीर लोग युद्ध के लिए सज्जित होने लगे। वीर चूड़ावत ने भी अपने ठिकाने पर जाकर युद्ध का डंका बजवाया जिसके सुनते ही सब वीर पुरुष युद्ध के लिए तैयार हो गये।

इस समय वीर चूडावत सरदार की आयु केवल अठारह वर्ष की थी और उनका हाल ही में विवाह हुआ था अभी कंगन भी नहीं खुला था। उनकी स्त्री की आयु केवल सोलह वर्ष की थी। चूड़ावत अपनी फौज को देख भाल कर घोड़े पर सवार होने को थे कि अकस्मात् उनकी दृष्टि झरोखे में से झाँकती अपनी नई आई हुई पत्नी पर पड़ी। यह देखते ही उनका युद्ध का उत्साह कुछ मंद पड़ गया। वे तुरन्त

ही अपनी भार्या के पास गये। चतुर वीर पत्नी तुरन्त ही उनके मनोभाव को समझ गयी और बोली, "महाराज, यह क्या बात है कि आपका युद्ध का उत्साह मंद पड़ गया। जिस उत्साह से आपने डंका बजवाया था वह उत्साह अब नहीं है। युद्ध के समय तो क्षत्रिय का उत्साह दुगुना होना चाहिए परन्तु आप में तो शिथिलता के चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं। आपको मेरी शपथ है सच सच सब बात बतलाइये।" उन्होंने उत्तर दिया कि "रूपनगर की राठौरवंश की कुमारी को बादशाह बलात् व्याहने आता है और उसने मन से हमारे राणा जी को वर लिया है। प्रातःकाल ही राणा जी उसे व्याहने रूपनगर जावेंगे और मैं समस्त मेवाड़ी सेना के साथ बादशाह का मार्ग रोकने जाऊँगा। मुझे मरने का तो कुछ भय नहीं है, केवल तुम्हारी चिन्ता है। तुम्हारा विवाह अभी हुआ है। तुमने अभी कुछ भी सुख नहीं देखा है। यही विचार मुझे व्याकुल कर रहा है। ज्योंही मैंने झरोखे में तुम्हारा मुखचंद्र देखा मेरा उत्साह शिथिल पड़ गया।" यह सुन हाड़ी रानी बोली, "महाराज, मेरा विचार आप स्वप्न में भी न कीजिये और अपना कर्त्तव्य पालिये। युद्ध में यदि आपकी विजय होगी तो हमको संसार में सब प्रकार का सुख प्राप्त होगा और कदाचित यदि आप युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए तो मेरी और आपकी भेट स्वर्ग में होगी। मैं अपने स्त्री कर्त्तव्य को अच्छी तरह समझी हुई हूँ। आप निश्चिन्तता से अपने कुलधर्म को याद रख कर विजयकामना से युद्ध करके शत्रुओं का संहार करें।" वे बोले, "हाड़ी जी युद्ध जीत कर जीवित आने की तो आशा

नहीं है और पीठ दिखा कर भाग आना भी नहीं होगा। इसलिए यह हमारी अंतिम भेंट है। तुम स्वयं विदुषी हो। मेरे काम आने बाद अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करना।" रानी ने कहा, "आप मेरी ओर से कुछ भी चिन्ता न कीजिये। मुझे अपना कर्त्तव्य भली भाँति विदित है। आप अपने कर्त्तव्य का ध्यान रखिये।" चूड़ावत सरदार बाहर तो आ गये परन्तु उनको विश्वास नहीं हुआ कि रानी अपना धर्म निबाहेगी। जब घोड़े पर सवार होने को थे तो उन्होंने अपने पुरोहित को रानी के पास भेजा और कहला भेजा कि अपना धर्म मत भूल जाना।

वीर बाला रानी ने सोचा कि जब तक स्वामी का चित्त मेरी ओर से न हटेगा रणक्षेत्र में उनसे कुछ भी पराक्रम न बन पड़ेगा जिससे वीर चूड़ा जी के वंश में धब्बा लग जायगा। यह विचार कर उस वीराङ्गना ने पुरोहित से कहा कि ये मैं अपना शीश काटे देती हूँ इसे स्वामी को दे देना और कहना कि "हाड़ी जी तो पहले ही से सती हो गयी और यह भेंट भेजी है। इसे लेकर आनन्द से युद्ध को प्रस्थान कीजिये और विजय पाइये। किसी प्रकार की और चिन्ता न कीजिये।" यह कह कर उसने तलवार से अपना सिर काट डाला।

धन्य वीराङ्गणा क्षत्राणी धन्य! तुम्हारे साहस को धन्य है। तभी तो भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने तुम्हारी महिमा इस प्रकार गायी है:—

"धन धन! भारत की छत्रानी।
वीर-कन्यका, वीर-प्रसविनी, वीर-वधू जग-जानी॥

सती-शिरोमणि, धर्म-धुरंधर बुधवल धीरज-खानी।
इनके यश की तिहूं लोक में अमल ध्वजा फहरानी ॥"

पुरोहित ने शीश लाकर चूड़ावत सरदार को दे दिया और सब समाचार उन्हें सुना दिया। वे आनन्द में मग्न हो गये। उनकी सब चिन्ता उड़ गयी। अब केवल युद्ध में शत्रुओं को मार कर मरने की धुनि सवार हुई। उन्होंने चुटीले को बीच में से चीर कर गले में लटका लिया और शिव स्वरूप बन युद्ध को प्रस्थान कर दिया।

अपने वीर सरदार का आगमन सुनते ही राणा जी भी प्रातःकाल के नित्य नियम से निवृत हो बाहर आये। सरदार से आवश्यकीय वार्तालाप करके वे पन्द्रह सौ सवारों के साथ रूपनगर को चल दिये। वीर चूड़ावत ने भी पचास हजार राजपूत सेना के साथ पूर्व की ओर प्रस्थान किया। एक नियत स्थान पर जो कि रूपनगर से तीन कोस पर था पहुँच कर वीर चूड़ावत ने छावनी डाल दी और बादशाह की सेना का पता लगाने कुछ कुछ सवार भेजे। खबर मिली कि बादशाह असंख्य फौज के साथ हाथी पर बैठा आ रहा है। यह खबर पाते ही उन्होंने अपने वीर राजपूतों को तैयार होने की आज्ञा दी। बादशाह भी आ पहुँचा और मार्ग में एक दूसरी सेना देख कर पूछा कि यह किसका दल है। महाराणा उदयपुर के सरदार चूड़ावत का दल जान कर उसने कहला भेजा कि हम उदयपुर नहीं जाते हैं तुम व्यर्थ क्यों रास्ता रोकते हो। परन्तु जब उन्होंने न माना तो बादशाह ने युद्ध की आज्ञा दे दी।

युद्ध आरम्भ हो गया। वीर राजपूत लोग पर्वत की भाँति अचल भाव से लड़ते रहे संध्या तक दोनों दलों में से कोई भी न हटा। अँधेरा हो जाने के कारण दोनों ओर से लड़ाई बंद हो गयी। प्रातःकाल ही फिर लड़ाई आरम्भ हो गयी। आज बड़े आवेग से युद्ध होता रहा। राजपूत लोग मार्ग में डटे हुए शत्रुओं को काटने लगे। रात्रि तक कोई भी पक्ष शिथिल नहीं हुआ। अँधेरे के कारण लड़ाई बंद करा दी गयी। राजपूत लोग रात्रि में भी शस्त्रबद्ध सोते थे और सचेत रहते थे।

तीसरे दिन मुसलमान ऐसे पराक्रम से लड़े कि बहुत से राजपूत मारे गये। यद्यपि मुसलमानों के दल में दुगुने तिगुने मनुष्य मारे गये परन्तु उस असंख्य दल में न्यूनता कुछ नहीं जान पड़ती थी। चूड़ावत ने जब देखा कि उसके वीर लोग घटते जाते हैं तो वह बड़े आवेग से लड़ने लगा। राणा जी को जो वचन दिया था वह उसे स्मरण हो आया। कहीं उसकी प्रतिज्ञा झूँठी न हो जाय इस विचार ने उसे उत्तेजित कर दिया। उसने उस सागररूपी मुसलमान सेना को एक बार मथन कर डाला। वह अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिए औरङ्गजेब के हाथी की ओर झपटा। जिधर वह जाता था उधर ही काई सी फट जाती थी। वह तुरन्त ही बादशाह के हाथी के पास पहुँच गया और अपने घोड़े को इशारा किया। अपने स्वामी के मन की बात जान कर घोड़ा भी उड़ा। हौदे के पास पहुँचते ही वीर चूड़ावत सरदार ने हौदा पकड़ के घोड़ा छोड़ दिया। उसने बड़ी फुर्ती से औरङ्ग की छाती पर सवार हो अपना

भाला उसकी छाती पर अड़ा दिया। अपने प्राणों को जोखम में देख औरङ्गजेब अपने प्राणों की भिक्षा माँगने लगा। चूड़ावत ने कड़क कर कहा, "मैं तेरे प्राण इस शर्त पर छोड़ सकता हूँ कि तू कुरान की कसम खा कि तू रूपनगर न जा कर यहीं से दिल्ली लौट जावेगा और आज से दस वर्ष तक उदयपुर पर चढ़ाई न करेगा। नहीं तो यह भाला तेरी छाती में प्रवेश होता है।"

ऐसे समय पर कौन क्या कबूल नहीं कर लेता है? औरङ्गजेब ने अपने प्राण जोखम में जान कर यह बात स्वीकार कर ली। उदारहृदय वीर सरदार ने उसकी जान छोड़ दी और हाथी पर से कूद पड़े। इस अवसर पर उनके शरीर में इतने घाव आये थे कि वे अपने को न सँभाल सके और अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने की खुशी में आनन्दित होते हुए स्वर्ग सिधारे। उसी दिन चैत्र की पूर्णिमा थी कि जिस दिन राणा राजसिंह का विवाह राजकुमारी प्रभावती के साथ होने को था।

सब सेना काम आ गयी। पचास हजार में से केवल पाँच हजार बच रही थी जो उदयपुर चली गयी। बादशाह ने भी अपना प्रण पाला और दस वर्ष तक उदयपुर पर चढ़ाई नहीं की।

इस प्रकार उदारचरित्र वीर चूड़ावत सरदार राजभक्ति और आत्मत्याग का अद्भुत उदाहरण छोड़ कर वीरगति को प्राप्त हुए।

राठौरों की वीरता

बूँदी-नरेश महाराज छत्रसाल की मृत्यु के पश्चात् औरङ्गजेब को दिल्ली का राज्य-सिंहासन हस्तगत करने में कोई रुकावट नहीं रही। दिल्ली के तख्त पर बैठ कर उसने यशवंतसिंह को नाश करने का संकल्प कर लिया क्योंकि वह अति भयंकर शत्रु था। काबुल के द्रोह का समाचार पाकर उसने यशवंतसिंह को काबुल जाने की आज्ञा दी। उसको निश्चय था कि क्रूर अफगानों के हाथ से उसका बचना मुश्किल है। यशवंतसिंह ने काबुल जाना स्वीकार कर लिया। रानी ने भी अपने पति के साथ जाना उचित समझा। निदान दोनों पति पत्नी अफगानों से लड़ने के लिए चल दिये। वर्षा और हिम के क्लेश उठाते हुए वे काबुल पहुँचे। वहाँ पर सारे देश में विद्रोह फैल रहा था। बड़ी बड़ी विपत्तियाँ सहनी पड़ीं, परन्तु रानी पुरुष-वेष में छाया की भाँति अपने पति के संग में रही। राजपूत लोग बड़ी वीरता से लड़े, परन्तु यशवंतसिंह के साथ छल का बर्ताव किया गया। उनको विष देकर दुष्टों ने अपना अभीष्ट सिद्ध किया।

रानी ने पति की मृत्यु के पश्चात् सती होना चाहा, परंतु उसको सात महीने का गर्भ था। अतएव उसे ऐसा करने से सबने रोका। नवें मास रानी के पुत्र हुआ जिसका नाम

अजितसिंह रक्खा गया। लड़का पैदा होने के पश्चात् राठौर सरदारों ने अपनी जन्मभूमि की ओर प्रस्थान कर दिया। दुष्ट औरङ्गजेब यशवंत की मृत्यु से ही शान्त नहीं हुआ। ज्यों ही राठौर दिल्ली के समीप पहुँचे कि बादशाह ने राठौरों से उनके बालक युवराज को माँगा। औरङ्गजेब ने सरदारों को लोभ दिलाया कि यदि तुम अपने युवराज को मेरे हवाले कर दोगे तो मारवाड़ का राज्य तुम लोगों में बाँट दिया जायगा। स्वामिभक्त सरदारों ने कहा कि हमारा देश और राजा हमारे प्राण हैं। उनकी रक्षा के लिए हम लोग प्राणों को तृणवत् समझते हैं। बादशाह ने उनकी फौज को घेरने की आज्ञा दे दी। आज्ञानुसार वे लोग एक बड़ी सेना से घेर लिये गये।

अब उन्हें अपने युवराज के बचाने की फिकर पड़ी। एक राजपूत ने इस बात का बीड़ा उठाया। वह साधू (काँवरिया) का भेष बना काँवर में राजकुमार को रख चंपत हुआ। अब वीर राठौरों को किसीका मोह न रहा। अपनी प्रतिष्ठा कायम रखने के लिए वे बद्ध-परिकर हो गये। जोधावत, दारावत, ऊदावत, सूजावत इत्यादि सभी सरदार युद्धभूमि पर आ उपस्थित हुए। राठौर वीर दुर्गादास ने एक बड़ी ओजस्विनी वक्तृता दी। वे बोले, "मेरे प्यारे वीर भाइयो! यवन लोग अपना मुँह बाये हुए हम लोगों को निगल जाने के लिए सामने खड़े हैं। परन्तु हमारे खड्गों से निकली हुई रोशनी से दिल्ली हमारे रुद्र कर्म को अपने नेत्रों से निहारेगी। शाह की सेना हमारी क्रोधाग्नि में आहुति होगी। वीर

पुरुषो! अब विलम्ब का समय नहीं है।" बस, फिर क्या था, वीर राठौर हाथ में नंगी तलवार ले रुद्ररूप धारण कर शत्रुओं पर टूट पड़े। घोर घमसान आरम्भ हो गया। थोड़े से मनुष्य असंख्यों का कब तक सामना कर सकते थे। एक एक राजपूत सौ सौ यवनों का सामना कर रहा था। निदान जब कि राजपूतों ने देखा कि उनका निकल जाना असम्भव है तो वे स्वर्ग की यात्रा के लिए तैयार हो गये। रानी भी वीरता से लड़कर काम आयी। कुछ मनुष्यों के साथ वीर दुर्गादास अपने राजकुमार की रक्षा के लिए मुसलमानों को काटता छाँटता निकल गया। किसीको उसे रोकने की हिम्मत न पड़ी। *

दुर्गादास अपने थोड़े से वीर राजपूतों के साथ राजकुमार से जा मिला। उसे लेकर वह आबू गया और वहाँ पर उसका पालन करने लगा। इस दुःसमय में जोधपुर पर परिहारों ने अपना अधिकार कर लिया था। जब राठौरों को ज्ञात हुआ कि यशवंतसिंह का पुत्र काबुल से जीता बच आया है और दुर्गादास की रक्षा में पाला जा रहा है तो इस खबर के पाते ही वे सब दुर्गादास से जा मिले। सेना एकत्रित करके उन्होंने परिहारों पर हमला कर दिया और उन्हें मार कर मंडौर से निकाल दिया।

जब औरङ्गजेब ने सुना कि राठौरों ने जोधपुर पर फिर अधिकार कर लिया तो सत्तर हजार सेना के साथ तेवरखाँ

---

* यह घटना संवत् १७१६ के श्रावण की सप्तमी को संघटित हुई थी।

को उनके विरुद्ध भेजा। वह स्वयं भी इस फौज के साथ अज-मेर तक आया।

पहला मुकाबिला संवत् १७७६ के भादों मास की ग्यारस को पुष्कर के मैदान में मेरतिया लोगों से हुआ। मेरतिया लोग बड़ी वीरता से लड़े। परन्तु अन्त में सब मारे गये।

अब बादशाह की फौज श्रावण के बादलों की भाँति उमगती हुई मारवाड़ में जा धँसी। कई स्थान पर उसे रोकने का प्रयत्न किया गया पर सब निष्फल हुआ। अब दुर्गादास ने गो-द्वार पर बादशाह का सामना करने का विचार किया। उदयपुर-नरेश महाराणा राजसिंह ने अपने पुत्र भीमसिंह के आधिपत्य में अपनी सेना जोधपुर की सहायतार्थ भेजी। दुर्गादास अपनी सेना तथा सीसौदियों की सेना लिये गोद्वार पर बादशाह की फौज के मानमर्दन को उपस्थित था। संवत् १७७६ के आसोज मास की चतुर्दशी को नाडोल पर घोर युद्ध हुआ। दुर्गादास ने इस युद्ध में अद्भुत घीरता प्रदर्शित की। भीमसिंह वीरता से लड़ कर काम आया।

दुर्गादास अपने युवराज को लेकर यहाँ से भी निकल गया। बादशाह से कई बार युद्ध हुआ। राजपूतों की अद्भुत वीरता, स्वामिभक्ति और स्वदेश-प्रेम देखकर औरङ्ग-जेब का पुत्र अकबर इनमें आ मिला। जब यह खबर औरङ्गजेब को मिली तो उसने रंज से अपने दाढ़ी के बाल नोच डाले।

अब औरङ्गजेब का राजच्युत होना प्रत्यक्ष जान पड़ने लगा। परन्तु औरङ्गजेब बड़ा ही विद्वान् और राजनीतिज्ञ था। उसका छल कभी कभी बड़ी फौज का काम देता था। एक बार जब अकबर राजपूतों के साथ औरङ्गजेब की फौज के मुकाबिले में जमा हुआ था और औरङ्गजेब ने अपनी हार की उस युद्ध में आशंका देखी तो एक पत्र जाली लिख कर राठौरों की फौज में डलवा दिया। जब पत्र राठौरों को मिला तो उसमें लिखा था कि "शाबाश बेटा! तूने राजपूतों को अच्छा भुलावा दिया। अब हम दोनों—तू पीछे से और मैं आगे से—घेर कर राजपूतों का काम तमाम कर देंगे।" इस पत्र को देखते ही राजपूतों के कान खड़े हो गये। बार बार मुसलमानों के छल और कपट ने उन्हें चौकन्ना कर दिया था। उन्होंने तुरन्त ही अकबर का साथ छोड़ दिया। जब अकबर ने देखा कि राजपूत लोग उसे छोड़ गये तो वह विचारा घबड़ा गया। उसने कहीं भी अपना बचाव न देखा। तब उसने दुर्गादास से ही रक्षा की प्रार्थना की। दुर्गादास ने उसकी रक्षा की प्रतिज्ञा की। इस प्रकार राजपूतों में आपस में मतभेद हो गया और भारत का निकलता हुआ सूर्य फिर अंधकार में विलीन हो गया।

अकबर को साथ ले दुर्गादास दक्षिण को चला गया। वहाँ रह कर उसने औरङ्गजेब को खूब ही तंग किया।

औरङ्गजेब उसके मारे तंग आ गया। औरङ्गजेब ने कई बार दुर्गादास को लोभ देकर अपने पक्ष में करना चाहा, परन्तु दृढ़-प्रतिज्ञ राठौर अपने वचन पर अटल रहा। एक बार शाह ने आठ हजार अशर्फियाँ दुर्गादास को भेजीं कि वह अकबर का साथ छोड़ दे, परन्तु दुर्गादास ने अशर्फियाँ लेकर अकबर की आवश्यकताएँ रफा करने में खर्च कर दीं। संवत् १७५३ में औरङ्गजेब ने पाँच हजारी मन्सब देकर दुर्गादास को अपने पक्ष में करना चाहा। परन्तु दुर्गादास ने उत्तर दिया कि "मैं ऐसा नहीं कर सकता। जालौर, सेवाची, सन्जोर और येरोड जो कि शाही दखल में हैं, जोधपुर-नरेश को लौटा दिये जायँ तो मैं शान्ति से बैठ सकता हूँ।"

एक बार शाही आज्ञा से शिवा जी और दुर्गादास की तस्वीर खींच कर बादशाह के सामने लायी गयीं। शिवा जी की तस्वीर कोच पर बैठे हुए की थी और दुर्गादास की वही सिपाहीयाने ठाठ में घोड़े पर सवार भाले की अनी से 'बाटी' सेकते हुए। औरङ्गजेब ने उन्हें देखते ही शिवा जी की ओर संकेत करके कहा, "इसे तो मैं अपने जाल में फँसा लूँगा।" दुर्गादास की ओर इशारा करके कहा, "पर यह कुत्ता मेरे नाश के ही लिए पैदा हुआ है।" औरङ्गजेब के ऐसा कहने से प्रतीत होता है कि दुर्गादास उसका प्रबल शत्रु था।

राठौरों की वीरता और स्वदेश-प्रेम के विषय में टाड साहब लिखते हैं—"In vain might we search the annals of any other nation for such inflexible devotion as marked the Rhatore character, through this period of strife, during which, to use their own phrase, 'hardly a chieftain died on his pallet.' Let those who deem the Hindu warrior void of patriotism read the rude chronicle of thirty years' war; let them compare it with that of any other country and do justice to the magnanimous Rajputs. This narrative the simplicity of which is the best voucher for its authenticity, presents an uninterrupted record of patriotism and disinterested loyalty. It was a period when the sacrifice of these principles was rewarded by the tyrant king with the highest honour of the State; nor are we without instances of temptations being too strong to be withstood; but they are rare and serve only to exhibit in more pleasing colours the virtues of the tribe which spurred the attempt at seduction. What a splendid example is the heroic Doorgadas of all that constitutes the glory of the Rajputs."

बाजी-प्रभु देशपांडे

महाराष्ट्र देश में अशान्ति देवी का अखंड राज्य फैला हुआ है। प्रत्येक मनुष्य के धन, जीवन और गौरव जाते रहने का हर समय डर रहता है। मार काट के सिवाय कुछ और बात ही नहीं। एक फौज गयी, दूसरी आयी। आज यहाँ कल वहाँ। रुधिर की नदियाँ बह रही हैं। एक ओर स्वतंत्रता-प्रिय महाराष्ट्र-केशरी महाराज शिवाजी अपने देश को यवनों से स्वतंत्र बनाने का प्रयत्न कर रहा है। अपना तन मन धन और जीवन सब अपने प्रिय देश के ऊपर उसने निछावर कर रक्खा है। दूसरी ओर यवनराज भारत पर अपना आधिपत्य कायम रखने तथा हिन्दु-जाति को हमेशा के लिए पराधीनता की जंजीर में जकड़े रखने के लिए शिवाजी का जानी दुश्मन बना हुआ है। एक ओर हिन्दू नरेशों से सम्मानित दिल्ली का सम्राट तथा अन्य यवनराज, दूसरी ओर असहाय केवल अपने भुज बलाश्रित महाराज शिवाजी। यदि ऐसे समय महाराज शिवाजी के आश्रित योद्धा-गण स्वदेशभक्त, आत्म-त्यागी, वीर और साहसी न होते तो नवीन राष्ट्र-स्थिति एक प्रकार असम्भव ही थी।

बीजापुर-नरेश-प्रेषित अफज़लखाँ पर विजय पाकर जब महाराज शिवाजी पन्हाल नामक दुर्ग में विश्राम कर रहे थे, उसी समय उसके पुत्र फाजलखाँ ने अपने पिता का वैर परि-शोधन के लिए एक बड़ी सेना लेकर उस दुर्ग को चारों ओर से आ घेरा। शत्रुओं की सेना बहुत बड़ी थी। परन्तु वीर

बाँके महाराष्ट्रगण कब डरने वाले थे ? कई महीने तक विकट युद्ध होता रहा। शत्रुओं की बहुत कुछ हानि भी हुई, परन्तु दुर्ग का घेरा उठाने का उन्होंने विचार तक नहीं किया।

शत्रुओं को ऐसा दृढ़ देख कर शिवाजी सोचने लगे, "इस प्रकार इस दुर्ग में हम कब तक घिरे रहेंगे ? शत्रुओं का दल-बल बहुत है। हमारे थोड़े से योद्धा टिड्डीदल सी सेना का कहाँ तक मुकाबला करेंगे ?" अस्तु उन्होंने वहाँ से निकल जाने का विचार किया।

एक रात्रि को अपने वीर योद्धाओं को लेकर महाराज शिवाजी ने क्षुभित सिंहों की भाँति शत्रुओं पर आक्रमण किया और अपने भुजबल से शत्रुओं को तितर बितर करके राँगना की ओर निकल चले। शिवाजी का ऐसा साहस देख कर मुसलमान लोग अचम्भे में रह गये। जब उन्होंने देखा कि हमारा सब प्रयत्न निष्फल हुआ जाता है तो हल्ला करके उन्होंने उनका पीछा किया और बहुत से कटु शब्दों से उन्हें रोकना चाहा। शिवाजी ऐसी विषाक्त बातें सुन फिर कर खड़े हो गये और शत्रुओं का मर्दन करने के लिए उन्होंने अपना भाला सँभाला।

भाग्यवश उनके साथ स्वामिभक्त सेनापति बाजी-प्रभु देशपांडे थे। उन्होंने जब ऐसा अनर्थ होता देखा तो शिवाजी के पास पहुँच कर उन्होंने हाथ जोड़ निवेदन किया, महाराज, यवन लोग कड़ी कड़ी बातें सुना कर हमलोगों को रोकना चाहते हैं। इस प्रकार उनके स्वार्थ का साधन होना सम्भव है। यदि हम यहाँ पर ठहरेंगे तो कुशल नहीं, क्योंकि शत्रुओं

का दल बहुत है। इस लिए "शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्" इस नीति का अवलम्बन कर यहाँ से शीघ्र ही निकल जाना चाहिए। मैं यहाँ पर सब शत्रुओं को रोकता हूँ। आप थोड़े से साथी लेकर आगे बढ़िए।" अपने एक सेनापति का ऐसा प्रस्ताव सुन कर शिवाजी गंभीर भाव से बोले, "क्या तुमको अकेले यहाँ मृत्यु के मुख में दे कर मैं अपनी रक्षा करूँ? क्या यह मेरा कर्तव्य है ? नहीं, हम सब मिल कर अपनी स्वाधीनता के लिए और अपने देश के लिए यहीं प्राण त्याग करेंगे।"

शिवाजी का ऐसा उत्तर सुन बाजी-प्रभु अधीर होकर बोला, "नाथ! मेरे विषय में आप कुछ शोक न करें। अभी हमारा कार्य सिद्ध नहीं हुआ है। आपके जीवन के साथ ही यह उच्च विचार भी एकबारगी लुप्त हो जायगा और जन्मभूमि को हमेशा के लिए पराधीन रहना पड़ेगा। प्रभु! हमारे इस कार्ययज्ञ में अभी अनेकों योद्धा अपने प्राणों की आहुति करेंगे। मेरे जैसे मनुष्य इस महाराष्ट्र ही में बहुत हैं, परन्तु इस विस्तृत भारतभूमि में शिवाजी एक ही है। उसके जीवन के साथ ही भारत के स्वतंत्र होने की आशा-लता एकदम मुरझा जायगी। इस लिए महाराज! आप अपना कार्य सिद्ध कीजिए। इस समय वादानुवाद का समय नहीं है। शत्रु लोग वेग से आ रहे हैं।" अपने वीर सेनापति को अधीर होते देख अपनी इच्छा के विरुद्ध ही शिवाजी थोड़े से सैनिकों को लेकर वहाँ से चल दिये, परन्तु उनकी आत्मा को इससे महान कष्ट हुआ। शिवाजी के चले जाने के बाद बाजी-प्रभु अपने मावली सैनिकों को लेकर एक तंग घाटी में छिप रहे और शत्रुओं के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे।

ज्योंही शत्रु लोग वहाँ पहुँचे, वे विकट सिंहनाद करके उन पर टूट पड़े। घोर घमसान युद्ध शुरू हो गया। मावली लोग विकट वेग से लड़ने लगे। रक्त की नदी बह निकली। नौ घंटे तक अविश्रांत युद्ध होता रहा, परन्तु शत्रु लोग एक कदम भी आगे न बढ़ सके। बाजी-प्रभु सिंह की भाँति दौड़ दौड़ कर शत्रुओं के बढ़ाव को रोक रहा था। निदान उसके थोड़े से साथी रह गये और उसका सब शरीर घावों से भर गया, परन्तु वह शत्रुओं के रोकने में ज़रा भी शिथिल नहीं हुआ। जब शिवाजी निर्विघ्न राँगने पहुँच गये तो क्षेमसूचक तोपें दागी गयीं। तोपों की आवाज़ सुनते ही बाजीप्रभु के मुख पर अलौकिक कान्ति देख पड़ी। उसके ओठों पर किञ्चित् मुस्कराहट मालूम होने लगी। विकट भीमनाद करके उसने ईश्वर को धन्यवाद दिया और चिर-काल के लिए वह मृत्यु की गोद में सो गये।

यदि आज बाजीप्रभु अपने प्राणों पर खेल कर शत्रुओं को न रोकता तो या तो शिवाजी का प्राणान्त होता या वे शत्रुओं के हाथ पकड़े जाते और भारत तथा महाराष्ट्र की भविष्य आशा आकाशपुष्पवत् हो जाती। यदि बाजीप्रभु देशपांडे को महाराष्ट्र का लियोनीडास (Leonidas) कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं है। जिस प्रकार लियोनीडास ने अपने तीन सौ स्पार्टन लोगों के साथ देश की स्वतंत्रता के लिए थरमापली की घाटी पर शत्रुओं का दमन करते हुए प्राण दे दिये उसी भाँति आज बाजी-प्रभु ने अपने देश की, स्वामी की और स्वतंत्रता की रक्षा के लिए प्राण दे दिये॥

पिता-पुत्र का आत्मत्याग

मुगल-सम्राट औरङ्गजेब दिल्ली के राज-सिंहासन पर सुशोभित है। उसके पितामह बुद्धिमान अकबर की अपूर्व नीति से ही आज समस्त भारतवर्ष उसके अधीन है। राजस्थान के प्रसिद्ध वीर योद्धा महाराज जयसिंह और महाराज यशवंतसिंह अकबर ही की पालिसी से आज औरङ्जेब के वामहस्त बने हुए हैं अथवा यों कहो कि मुगल राज्य इन्हीं दो दृढ़ स्तंभों पर अटल खड़ा हुआ है। राजनीति भी संसार में कैसी प्रबल वस्तु है। इस के अच्छी तरह सम्पादन करने से कैसा ही प्रबल शत्रु क्यों न हो वह भी विश्वासी मित्र बन जाता है। परन्तु यदि इस में थोड़ी सी भी भूल हुई तो एक विश्वासी मित्र भी कट्टर दुश्मन बन जाता है। सम्मान, उचित दंड और वर्ताव राजनीति ही के अंग हैं। इन्हींके द्वारा अकबर ने जयपुर जोधपुर आदि के नरेशों को अपने वश कर लिया था, इन्हींके द्वारा आज तक उसका नाम हिन्दुओं के हृदय पर अंकित है। इन्हीं के कारण हिन्दू मुसलमान एक प्रकार का आपस का भेद-भाव भूल से गये थे। ज्यों ही औरङ्गजेब ने अपनी अदूरदर्शिता के कारण कड़ी शासन-प्रणाली ग्रहण की बस सारे भारत वर्ष में असंतोष की प्रबल आग भड़क उठी और उसीकी लपलपाती ज्वालाओं में मुगल राज्य भस्म हो गया। दक्षिण में महाराष्ट्र लोग स्वाधीनता स्थापन करने की फिक्र में पड़े, इधर पंजाब में सिख लोगों ने मुसलमानों के अत्याचार से तंग आकर विद्रोह का झंडा खड़ा किया।

महाराज जयसिंह की असीम बुद्धिमानी तथा असाधारण नीति से महाराष्ट्र केशरी महाराज शिवाजी औरङ्गजेब का एक अधीन राजा बन चुका था परन्तु औरङ्गजेब की थोड़ी सी अदूरदर्शिता के कारण वही उसका कट्टर दुश्मन बन गया। इसी की कुटिल नीति के कारण ही शांतिप्रिय गुरु नानक का संप्रदाय एक मज़हबी फिरके से लड़ाकू फिरका बन गया।

इतिहास मेँ अकबर और औरङ्गजेब की राजनीति-प्रणालिओँ का अंतर बड़े मार्के का मनन योग्य और साथ ही साथ शिक्षाप्रद भी है।

औरङ्गजेब को दूसरे सभी धर्मोँ से चिढ़ थी। टालरेंस की तो उसमेँ बू तक नहीँ थी। जब उसने देखा कि पंजाब मेँ सिक्ख धर्म बड़ी प्रबलता से उन्नति कर रहा है तो उसके कान खड़े हुए। निदान उसने उनके नवेँ गुरु तेगबहादुरजी को संवत् १७३२ मेँ दिल्ली बुलवा भेजा। दरबार मेँ पहुँचते ही पहले उसने बड़े आदर सत्कार का बर्ताव किया परन्तु गुरु नानक बड़े विद्वान थे अतएव उन्हेँ वह सत्कार विष तुल्य बुरा लगा। कहा भी है "नवन नीच की अति दुखदाई।" थोड़ी ही देर मेँ उसका मतलब खुला। उसने उनसे मुसलमान होने की प्रार्थना की। भला गुरु महाराज इस घृणित प्रस्ताव को कब स्वीकार कर सकते थे। जब उन्होँने इसे अस्वीकृत किया तो उसने लोभ से अपना मतलब साधना चाहा। उसने कहा कि मुसलमान होने से आप पीर बना दिये जाँयगे। परन्तु जब इससे भी काम न निकला तो उसने साफ कह दिया कि यदि आप मुसलमान न होँगे तो आप का प्राण-घात किया जायगा। गुरु की आत्मा तो बलवान थी। वे भला मरने से कब डरने

वाले थे। बादशाह ने कुछ दिन के लिए उन्हें बंदी घर में भेज दिया। कुछ दिन बीतने पर जब उनसे फिर मुसलमान होने को कहा गया तो उन्होंने साफ कह दिया कि मैंने प्रथम ही कह दिया है कि ऐसा नहीं करूँगा। अब भी मैं अपने संकल्प पर दृढ़ हूँ। निदान बादशाह ने उनके बध की आज्ञा दे दी। तदनुसार वे उसी बंदीग्रह में मार डाले गये और उनका मृतक शरीर वहीं एक कोठरी में सड़ने के लिए डाल दिया गया।

इस खबर से सारे भारतवर्ष में खलबली मच गयी। सिक्खों के मुँह पर तो मुर्दनी छा गयी। जिस दिन दिल्ली में यह घटना संघटित हुई थी उसी दिन तेगबहादुर के वीर पुत्र गोविन्दसिंह अपने पिता को बंदी से छुड़ाने का उपाय सोच रहे थे। जब यह हृदय विदारक समाचार उनके कर्ण-गोचर हुआ तो उनके क्रोध और दुःख का पारावार न रहा। उस समय उस वीर सुपुत्र के हृदय में क्या क्या भाव उत्पन्न हुए होंगे इसका निश्चय करना हमारी बुद्धि से बाहर है। निश्चय है कि उसी समय उन्होंने भारतवर्ष को इस महा भयंकर विपत्ति से छुड़ाने के लिए तथा अपनी जाति-रक्षा के लिए अपने मन में संकल्प किया होगा। परन्तु बिना पूरी सामिग्री तथा साधन के एक प्रभावशाली सम्राट से युद्ध करके पतंगे की भाँति मर जाना कोई बुद्धिमानी की बात नहीं। अतएव गोविन्दसिंह अपने पिता के मृतशरीर को वहाँ से किसी तरह निकालने का उपाय सोचने लगे।

इस समय गुरु गोविन्दसिंह की आयु केवल अठारह वर्ष की थी। इस छोटी सी आयु में ही उन्हें अपने पिता तथा

सिक्खोँ के गुरु के बध का बदला लेने का गुरुतर भार सौँपा गया। वे बड़े सोच मेँ पड़ गये। चिन्ता के लक्षण उनके विशाल भाल पर दृष्टि-गोचर होने लगे। उन्होँने एक छोटी सी सभा एकत्र की और अपने मित्रोँ से इस विषय मेँ सलाह माँगी। किसीकी बुद्धि ने कुछ काम न किया और न किसीने इस कठिन कार्य का भार अपने ऊपर लिया। यह देख कर गोविन्दसिंह के मुख पर उदासीनता छा गयी। जिन से उन्हेँ आशा थी उनसे उनकी आशालता कुछ मुरझा सी गयी। वे गंभीर शोक-सागर मेँ निमग्न हो गये। जिस ओर से उन्हेँ सहायता की कुछ भी आशा न थी, उसी ओर से उनकी आशालता को लहलहाने वाले अमृत प्रवाह मधुर शब्द सुनाई दिये। रंगरिठे नामक नीच जाति के दो मनुष्योँ ने जो कि पिता पुत्र ही थे हाथ जोड़ कर निवेदन किया, "महाराज! हम लोग नीच जाति के मनुष्य हैँ इस लिए इस सेवा के योग्य तो नहीँ पर यदि आज्ञा हो तो उद्योग करेँ। गुरु की कृपा से अवश्य ही कार्य की सिद्धि होगी।"

इस जाति-पाँति के झगड़े ने लोगोँ की आत्माओँ को ऐसा निर्बल कर दिया है कि वे बल बुद्धि और विद्या मेँ उच्च जाति वालोँ से भले ही उच्च होँ पर अपने का नीच गिरे हुए ही मानते हैँ। तभी तो विचारे किसी उच्च कार्य के करने की हिम्मत तक नहीँ कर सकते। भला वह मनुष्य तबतक कैसे कोई बड़ा कार्य कर सकता है जबतक वह अपने को अपने मन मेँ तुच्छ समझता हो। परन्तु सिक्खोँ मेँ यह जाति-पाँति का दृढ़ बंधन कुछ ढीला पड़ गया था। सिक्खोँ के गुरुओँ ने

अपनी असीम दूरदर्शिता से धर्मोपदेश में जाति का भेद भाव कुछ आवश्यक न समझा इसीलिए उनका वर्ताव प्रत्येक जाति के मनुष्य के साथ एक सा था। वे समझते थे कि जाति-पद्धति स्वार्थी समाज की बनाई हुई है परन्तु ईश्वर की दृष्टि में सब एक हैं। किसी को अधिकार नहीं कि एक दूसरे को नीचा समझे और आप ऊँचा बने। बुद्धि, बहादुरी और विद्या में किसी जाति-विशेष का इजारा नहीं है। किसी जाति ने इनका ठेका नहीं ले लिया है। अतएव गुरु गोविन्दसिंह ने इस कठिन कार्य करने की आज्ञा उन रंगरिठों को प्रसन्नता से दे दी।

वे भी प्रसन्न हो उत्साह से भरे इस कार्य के सम्पादन के लिए चल दिये। उनको उस समय पता तक नहीं था कि कैसे कठिन कार्य का भार उन्होंने अपने ऊपर ले लिया है। परन्तु जो ईश्वर पर भरोसा रख कर कार्य में दत्तचित हो कर उद्योग करता है ईश्वर उसकी सहायता करता है और उसके कार्य की सिद्धि होती है।

जिस समय वे दिल्ली की ओर इसी कार्य की धुनि में मस्त चले जाते थे तो उन्हें मार्ग में एक रथवान मिला। बात चीत करने से मालूम हुआ कि वह भी पंजाबी है और दिल्ली में एक धनी के यहाँ रथ पर नौकर है और गुरुओं का भक्त है। अच्छी तरह बात चीत करने से उन्हें यह विश्वास-पात्र जँच गया। तब उन्होंने अपने इस महान कार्य में उसकी सहायता माँगी। यह रथवान बहुत दिनों से दिल्ली में रहता था और वह वहाँ की गली गली से परिचित था। अतएव उसने उन्हें उस

मकान का पता बतलाया जिसमें गुरुजी का मृतक-शरीर पड़ा हुआ था और आवश्यकता होने पर अपनी सहायता देने की प्रतिज्ञा की। अब तीनों पुरुषार्थियों ने सलाह करके यह निर्धारित किया कि दोनों रंगरिठे तो मकान से शव को निकाल लावें और रथवान थोड़ी ही दूर पर रथ लेकर तैयार रहे। बस गुरुजी के शव को रथ में रख कर इस बहाने से कि धनी के बाल बच्चे रथ में कहीं जाते हैं चुप चाप दिल्ली से बाहर होवें और फिर किसी गुप्त राह से निकल जावें।

अस्तु उन्होंने सूर्य छिपने के पहले ही दिल्ली में प्रवेश किया। दिल्ली की शोभा उस समय मनोहारिणी बनी हुई थी। क्यों न हो क्योंकि वह तो विलास-प्रिय मुगल तथा पठान सम्राटों की सैकड़ों वर्ष से राजधानी ही थी। जब मनुष्य के हृदय में कोई बड़ी भारी चिन्ता होती है तो कैसी भी मनोहर और रमणीक वस्तु क्यों न हो उसका ध्यान उधर आकर्षित नहीं होता है। उसी प्रकार आज हमारे वीर रंगरिठे जिन्होंने दिल्ली को पहले कभी नहीं देखा था अपनी धुनि में मस्त चले जाते थे। दिल्ली के बड़े बड़े सजे सजाये मकान, बाजारों, की बहार मनुष्यों की धारा प्रवाह आमदरफ्त, इनके ऊपर कुछ भी असर न डाल सकी। वे अविरल गति से उस मकान के पास पहुँचे कि जिसमें उनके गुरु का हत्याकांड हुआ था। मकान के चारों ओर से अच्छी भाँति देख भाल कर के और रथ खड़े रहने का स्थान दिखा कर रथवान तो चला गया और ये दोनों वीर पुरुष वहीं किसी गली में छुप कर बैठ रहे।

आधी रात के समय जब कि चन्द्रदेव भी अस्त हो गये

और संसार में निविड़ अंधकार छा गया तब नवयुवक रंग-रिठा पिछली ओर की दीवार से छत पर चढ़ गया और सीढ़ियों को राह नीचे उतर अपने पिता के लिए दर्वाजा खोल दिया। पहरे वाले उस समय प्रगाढ़ निद्रा में सुख से सो रहे थे। उन्हें इस बात का भ्रम तक नहीं था कि मृतक-शरीर की भी चोरी हो जायगी।

वे धीरे धीरे उस कोठरी में पहुँचे जहाँ पर गुरु महाराज का मृतक देह पड़ा हुआ था। वहाँ उन्होंने रथवान की दी हुई सामिग्री से चिराग जलाया। दीपक की रोशनी में उन्होंने गुरु महाराज के पवित्र शरीर को लहू में लथपथ देखा। यह देख कर एक बार उनका हृदय काँप गया। फिर उन्होंने बड़ी श्रद्धा-भक्ति से गुरुजी के चरणों में अपना मस्तक रख प्रणाम किया और अपने इस कार्य में सहायता मिलने की प्रार्थना की। जिस समय गुरुजी की अभ्यर्थना कर रहे थे उसी समय उनके मन में यह विचार पैदा हुआ कि 'प्रातःकाल गुरु का शव न पाकर पहरुये इत्तिला देंगे और खोज होने पर हम पकड़े जाँयगे'। यह विचार उनके हृदय में उठ ही रहा था कि उसका उन्हें उपाय भी सूझ गया। जब कोई मनुष्य शुभ कार्य में हाथ लगाता है तो ईश्वर भी उसकी सहायता करता है।

पुत्र ने अपना यह विचार पिता पर प्रकट किया कि मैं यहाँ पर लेटा जाता हूँ तुम मेरी कटार लेकर मेरा शिर काट दो। जिससे पहरुये जाग कर देखलेंगे कि मृतक पड़ा है और राज कर्मचारियों को खबर न होगी। पिता ने पुत्र के इस प्रस्ताव

का अनुमोदन तो किया पर पुत्र के बध को भला कैसे स्वीकार करता। अतएव उसने कहा कि मेरा ही सिर काट कर यहीं रख जाओ और तुम गुरुजी को लेकर चलते बनो। पुत्र इस बात को स्वीकृत नहीं करता था। निदान बहुत सा समय इसी झगड़े में नष्ट हो गया। ऐसा देख कर पिता ने कहा, "हे पुत्र! व्यर्थ समय नष्ट न करना चाहिए। हमारा कर्तव्य अपने कार्य को सिद्ध करना है। जैसे हो वैसे वह कार्य करना चाहिए। गुरुजी वृद्ध थे और मैं भी वृद्ध हूँ। अस्तु मेरा उनका शरीर कुछ कुछ समता रखता है। इसलिए मृतक को देख कर कोई भी कुछ शंका न करेगा परन्तु तुम्हारे नवयुवक शरीर को देख कर उनको सब भेद खुल जायगा। इसके अतिरिक्त तुम युवा और बलवान भी हो इसलिए गुरु महाराज का शरीर ले जाने में समर्थ भी हो। मुझ से शायद निर्बलता के कारण उनका शरीर न ले जाया जाय तो सब किये हुए पर पानी फिर जायगा।" इस प्रबल युक्ति के सामने पुत्र की पराजय हुई परन्तु अपने वृद्ध पिता का सिर अपने हाथ से कैसे छेदन करे। अंत में पिता ने उसका अभिप्राय समझ पुत्र को आशिर्वाद दिया और कहा, "गुरुगोविन्दसिंह जी के सामने मेरा नमृता से प्रणाम कह देना।" यह कह कर और कुछ जप कर और 'वाह गुरुजी की खालसा। वाह गुरुजी की फ़तह' उच्चारण कर उसने अपनी कटार से अपना सिर छेदन कर दिया।

जब किसी जाति की उन्नति होने को होती है, जब किसी जाति में जाग्रति होने को होती है तब उस जाति में ऐसे ही आत्मत्यागी महान पुरुष जन्म लेते हैं। उस समय सिक्ख

जाति के अभ्युदय का प्रभात ही था। ईश्वर को सिक्ख जाति को उन्नति के शिखर पर पहुँचाना अभीष्ट था। भारत के भाग्य में कुछ अच्छा होने को था। इसीसे मानों प्रत्येक सिक्ख के हृदय में आत्मत्याग का गुप्त मंत्र किसीने फूँक दिया था।

पुत्र ने गुरु का मृतक शरीर एक ओर करके अपने पिता का शव उस स्थान पर रख दिया और पिता के चरण छू गुरु के शव को कंधे पर रख द्वार के मार्ग से बाहर निकल गया। बाहर निर्दिष्ट स्थान पर रथ और रथवान मौजूद थे। रथ में गुरुजी की देह को रख कर वे तेजी से चल दिये। विना किसी आपत्ति के वे गुरु गोविन्दसिंह के पास जा पहुँचे। आदन्दपुर पहुँच कर मृतक-शरीर का विधिवत् दाह कर्म संस्कार किया गया।

———

भीमसिंह

राजपूतों का आचार व्यवहार जगत प्रसिद्ध है। यदि इनके आचार व्यवहार की तुलना अन्य जाति के आचार व्यवहार से की जाय तो बड़ा भारी अंतर दृष्टिगत होता है। एक ही समय में ऐसी दो विरुद्ध घटनाएँ देख कर यही विचार होता है कि समय का प्रभाव मनुष्य पर बहुत कम पड़ता है परन्तु जातीयता का ही असर मनुष्य के स्वभाव पर अविचलित भाव से अंकित रहता है। एक ओर मुगल-सम्राट के पुत्रों का आपस में झगड़ना तथा अपने जन्मदाता पिता के भी ख़ून के प्यासे बन जाना दूसरी ओर महाराणा राजसिंह के पुत्र भीमसिंह का अपने छोटे भाई के लिए इसी आशा से कि ख़ून खराबी न हो अपने राज तक को छोड़ देना यह दोनों घटनाएँ पढ़ने वाले को आश्चर्य में डालती हैं।

महाराणा राजसिंह के दो रानियाँ थी। दोनों के एक एक पुत्र था। छोटी रानी महाराणा की कृपापात्र थी। इसलिए उसके पुत्र जयसिंह पर भी महाराणा की ज्यादा कृपा थी परन्तु बड़ी रानी का पुत्र ज्येष्ठ था और इसलिए राज्य का उत्तराधिकारी वही था।

बहुपत्नीव्रत एक प्रकार घर की शांति को नष्ट करने वाला है परन्तु हमारे भारत में इसका प्रचार बहुत दिनों से है। इसी कारण महाराज रामचन्द्र जी को भी चौदह वर्ष बन की असीम यातना सहनी पड़ी तथा अपने पिता की मृत्यु

का दुःख भोगना पड़ा। महाराणा राजसिंह सहज ही बुद्धि-मान तथा नीतिज्ञ थे परन्तु इस प्रथा का अशुभकारी परिणाम न सोच सके। दो वस्तु कैसे भी प्यारी क्यों न हो परन्तु उनके ऊपर एकसा प्रेम होना असम्भव है। इसी कारण आज कल भी सैकड़ों घरों में नित्य महाभारत हुआ करता है।

जब दोनों कुमार बड़े हुए तो राणाजी को चिन्ता हुई कि छोटे के ऊपर पिता का अधिक प्रेम देख कदाचित बड़े को कुछ डाह हो और कुछ अनुचित कार्य कर बैठे। निदान उन्होंने सोच विचार कर एक दिन बड़े पुत्र भीमसिंह को अपने पास बुलाया और उसे नंगी तलवार देकर गंभीरता से उससे कहा, "यह नंगी तलवार लो और जाकर अपने छोटे भाई का काम तमाम करो जिससे भविष्य में राज्य में कोई हल-चल न हो।" उदारचरित भीमसिंह अपने पिता के मुख से ऐसे वचन सुन कर स्तंभित रह गये। उन्होंने समझ लिया कि दुहरे संकट में पड़ने के कारण पिता ऐसा कहते हैं। पिता का संकट दूर करना अपना धर्म समझ तथा अपने भाई की हत्या से बचने के लिए वे बोले, "पिताजी! यह पैशाचिक कार्य मुझसे न होगा। मैं आपके राज-सिंहासन को छूकर शपथ करके कहता हूँ कि यदि आज से दुवारी के भीतर एक बूंद जल भी पीऊँ तो महाराणा राजसिंह का पुत्र नहीं। आप किसी प्रकार की शंका न करें। राज्य छोटे भाई जयसिंह को ही दीजिये।" ऐसा कह कर वह अपने थोड़े से साथियों को साथ लेकर वहाँ से चल दिये।

सूर्य अपनी पूरी तेजी से आकाश में तप रहा था, समस्त भूमि गर्मी के मारे व्याकुल हो रही थी, एक भी पत्ता न हिलता था। दुवारी नामक पहाड़ी दर्रा सूर्य की गर्मी के कारण अग्निकुंड बन रहा था। ऐसे समय में भीमसिंह अपने साथियों के साथ पथरीले मार्ग से जा रहे थे। गर्मी के कारण उनकी गति सहसा रुक गयी और वे एक वट-वृक्ष के नीचे कुछ आराम करने बैठ गये। एक बार विस्तृत दृष्टि से अपनी मातृभूमि की ओर देखा और एक ठंडी दीर्घ निश्वास लेकर मन ही मन उसको अंतिम प्रणाम किया।

उसी समय वे प्यास से व्याकुल हुए। अस्तु अपने पनेड़ी को पानी लाने के लिए आदेश किया। वह भी आज्ञानुसार एक चाँदी के कटोरे में पास ही के झरने से शीतल स्वच्छ जल ले आया। ज्योंही उन्होंने कटोरा मुँह से लगाया कि उन्हें अपनी शपथ याद आ गयी। तुरन्त कटोरे का पानी वहीं गिरा दिया और वनदेवी को सम्बोधन करके बोले, "हे देवि! क्षमा करना। मैं भूल से अपनी प्रतिज्ञा के विरुद्ध कार्य करने चला था। दुवारी स्थान के भीतर तो मुझे एक बूँद पानी भी पीने का अधिकार नहीं।" ऐसा कह कर अपने घोड़े पर सवार हो साथियों सहित शीघ्रता से दुवारी से बाहर हो गये।

भीमसिंह यदि चाहते तो उत्तराधिकार के सदा के नियम के अनुसार मेवाड़ में राज्य कर सकते थे परन्तु अपने पिता को तथा अपने भाई को दुःख पहुँचाना उन्हें अभीष्ट नहीं था। इसीलिए आज वे एक अपरिचित मनुष्य की भाँति अपनी मातृभूमि को छोड़ कर चल दिये।

वे सीधे बादशाही दरबार में पहुँचे। उसने इनको सत्कार पूर्वक साढ़े तीन हज़ारी मन्सब दिया और बावन पर्गने जागीर में दिये। सच है "उदारचरित वीर पुरुष का कहाँ आदर नहीं होता है?" *

---

* नोट—भीमसिंह के वंशधर वनेरा के राजा से टाड साहब ने यह वृतान्त सुना था।

बख्तसिंह

यह महाराज अजितसिंह के द्वितीय पुत्र थे। इनके बड़े भाई महाराज अभयसिंह अपने पिता की मृत्यु के बाद जोधपुर के राजा हुए। बख्तसिंह को नागौर और जालौर के परगने जागीर में मिले। ये बड़े ही उद्योगी, साहसी और वीर थे।

संवत् १७८६ में महाराज अभयसिंह ने बीकानेर के महाराज जोरावरसिंह पर चढ़ाई की। बहुत दिनों तक युद्ध होता रहा परन्तु बीकानेर का किला न टूटा। इस युद्ध में बख्तसिंह से सहायता न ली गई थी। अंत में बीकानेर नरेश ने जयपुर नरेश महाराज जयसिंह की सहायता का पत्र नशे की दशा में महाराज जयसिंह को सुनाया। जोश में आकर उन्होंने अभयसिंह को लिख भेजा, "बीकानेर और आपका घर एक है। अतएव आप अब बीकानेर के महाराज को क्षमा करके घेरा उठा लीजिये नहीं तो स्मरण रहे कि मेरा नाम जयसिंह है।" इसको पढ़ कर जोधपुर नरेश ने क्रोध में लिख भेजा, "मेरे और घराने वालों के बीच में पड़ने का आपको कोई अधिकार नहीं। आपका नाम जयसिंह है तो मेरा नाम भी अभयसिंह है।" नशा उतरने पर महाराज जयसिंह को अपनी भूल पर पश्चाताप करना पड़ा परन्तु

"महामहिम पुरुषों के मुख से वचन निकल जो जाता है।
विश्व बीच विपरीत भाव वह कभी नहीं दरशाता है॥"

के अनुसार महाराज जयसिंह ने दो लाख सेना लेकर अभयसिंह को दंड देने के लिये जोधपुर पर चढ़ाई कर दी। यह

सुन कर अभयसिंह के प्राण सूख गये। तुरन्त घेरा उठा कर जोधपुर पहुँच कर किसी प्रकार अपना बचाव न देख कर महाराज अभयसिंह ने जयपुर वालों को २२ लाख रुपये फौज खर्च देकर संधि करने पर राजी किया। फौज खर्च लेकर जयपुर नरेश जयदुंदुभी बजाते हुए जयपुर को लौट गये परन्तु बख्तसिंह इस बात से बड़े लज्जित हुए और जयपुर महाराज से बदला लेने के लिए उन पर चढ़ाई की। जनश्रुत के आधार पर इसका वर्णन इस प्रकार हैः—

जब जयपुर महाराज फौज खर्च लेकर लौट जाने पर राज़ी हुए तो अब राठौरों ने विचार किया कि यदि दंड के रुपये दिये तो हमेशा के लिए बदनामी है। जयपुर महाराज की बहिन महाराज अभयसिंह को ब्याही गयी थी। इस लिए अपनी बदनामी बचाने के लिए यह सलाह स्थिर हुई कि महारानी साहब का वह जेवर जो जयपुर से दायज में आया था रुपये की एवज़ दिया जाय। जयपुर वाले अपनी बाई साहब का जेवर देख कर न लेंगे और अपनी बदनामी से बच जाँयगे।

दरबार में दोनों राजा बैठे हुए थे। इस समय मंत्री ने रानीजी का जेवर एक थाल में लाकर जयपुर नरेश के सामने रख दिया और हाथ जोड़ कर निवेदन किया कि "महाराज बीकानेर पर चढ़ाई करने के कारण बहुत सा रुपया खर्च हो गया है और खजाने में रुपया कुछ भी नहीं है। इस लिए यह जेवर श्रीमान् की नज़र है।" अपनी बहिन का जेवर देख कर जयपुर नरेश धीरेसे अपने दीवान से बोले कि, "यह जेवर तो बाईजी का है।" यह सुनते ही स्वामि-भक्त दीवान ने

कड़क कर कहा, "महाराज। बाईजी का तो जेवर जब बाईजी जयपुर में थी तब था। अब तो यह जोधपुर महाराज की रानी का है।" यह कह कर तुरन्त ही जेवर का थाल उठा कर अपने सेवकों के हवाले किया और आनन्दित होते हुए जय-पुर की ओर प्रस्थान कर दिया।

इधर जोधपुर में खुशी का दर्बार हुआ। सब सरदार अपने अपने स्थान पर बैठे हुए थे। मालीने खुशबख्ती की डाली महाराज के नज़र की। महाराज ने एक गुलाब का फूल उस डाली में से उठाकर चारण जी को सन्मान पूर्वक दिया। चारण ने फूल लेकर सादर प्रणाम किया और वह अपने स्थान पर बैठ गया। चारण ने न तो फूल को सूँघा और न पगड़ी में टाँगा परन्तु अपने नीचे दाब कर बैठ गया। चारण का ऐसी धृष्टता का बरताव देखकर क्रोध से महाराज के नेत्र लाल हो गये। उन्होंने पूछा, "क्यों, चारण जी, यह क्या बात है?" चारण ने सादर निवेदन किया "महाराज, फूल या तो पगड़ी में टाँगा जाता है या नाक में सूँघा जाता है। परन्तु अन्नदाता जी! पगड़ी तो बीकनेर ही में रही और नाक को जयपुर वाले काट ले गये। अब तो महाराज, पूँछ रह गई है सो ई में ही मेल लीनो है।" यह युक्ति पूर्ण उत्तर सुन कर महाराज ने लज्जित होकर शिर नीचा कर लिया। परन्तु वीर बख्तसिंह यह कठोर और मर्मच्छेदी वाक्य सहन न कर सका। क्रोध से उसके नेत्र लाल हो गये ओंठ फड़कने लगे। जोधपुर के साथ अपना अपमान भी समझ कर वीर राठौर वंश का रक्त बड़े आवेग से उसकी नसों में बहने लगा। वह शीघ्रता से खड़ा हो गया और महाराज से कहने लगा,

"महाराज, चारण जी का कथन बहुत ठीक है। क्या राठौर वंश वीर हीन हो गया है ? क्या राठौर वंशोद्भव कोई भी वीर अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा नहीं करेगा। महाराज, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि महाराज जयपुर का मान मर्दन करके जेवर लौटा लाऊँगा। अब देर का काम नहीं है शीघ्र ही आज्ञा दे दीजिये।" महाराज ने भी बख्ता का आग्रह देख आज्ञा दे दी।

वीर बख्ता ने केवल पाँच हज़ार सेना लेकर महाराज जयपुर का पीछा किया और गंगवानी के पास ही जा दबाया। युद्ध आरम्भ हो गया। जयपुर वालों की फौज को बख़्ता ने समुद्र की भाँति मथ डाला। उस समुद्र-रूपी फौज को इधर से उधर पार कर गया और फिर उधर से इधर पार हो गया। जयपुर नरेश के प्राण संकट में पड़ गये। "यदि जेवर न लौटाया जायगा तो जयसिंह के प्राण नहीं छोड़ूँगा। यही बख़्तसिंह की प्रतिज्ञा थी। अंत को जेवर लौटा दिया गया। बख़्ता के साथियों में से केवल साठ बच रहे। महाराणा उदयपुर ने बीच में पड़ कर युद्ध का अंत किया। वीर बख़्तसिंह जयदुंदुभी बजाते जोधपुर लौट आये। इस प्रकार बख़्ता ने अपने प्राण खतरे में डालकर भी जोधपुर तथा अपनी जाति की प्रतिष्ठा स्थिर रक्खी।

कृष्णकुमारी

महाराणा राजसिंह के मरने पर ही मेवाड़ का कीर्तिमार्तंड अस्ताचल की ओर चलायमान हो चुका था। मराठों और अमीर अली आदि डाकुओं के बार बार के आक्रमण तथा घर की फूट के कारण मेवाड़ की शक्ति खोखली पड़ गयी थी। सत्य है इस असार संसार में एक सी स्थिति किसी की नहीं रहती। सुखके पीछे दुःख, दिन के बाद रात की भाँति सदा लगा ही रहता है। जिस मेवाड़ के अधिप स्वाधीनता के लिए जंगल जंगल फिरे पर इस अमोल रत्न को अपने हाथ से न जाने दिया उन्हीं बप्पारावल तथा प्रताप की संतान अमीर अली आदि डाकुओं के हाथ की कठपुतली की भाँति बने हुए हैं। ऐसा देख सुनकर हृदय विदीर्ण होता है लेखनी हाथ से छूटती है। काल की गति अति विकट। दैव सर्वदा सैकड़ों तरह से अपने अभीष्ट को सिद्ध करता है।

महाराणा भीमसिंह की एक परमरूपलावण्यवती पुत्री थी। उसका नाम कृष्णकुमारी था। जब यह विवाह योग्य हुई तो महाराणा ने उसका वाक्दान जोधपुर के नरेश से कर दिया था। दैवयोग से जोधपुर नरेश की मृत्यु हो गयी और उनके भाई मानसिंह गद्दी पर बैठे। महाराणा ने जोधपुर नरेश की मृत्यु के पश्चात अपनी पुत्री का सम्बन्ध जयपुर नरेश जगत. सिंह के साथ कर दिया। जब मानसिंह को इस बात की खबर मिली तो उसने कहला भेजा कि "पहले मेरे भाई से

यह सम्बन्ध हो चुका है। इस लिए अब यह विवाह मुझसे होना चाहिए। हमारी माँग को जयपुर वाले कैसे ले जाँयगे।" सिंधिया उसकी सहायता को तैयार हो गया और उसने महाराना को लिखा कि मानसिंह के साथ विवाह कर दो। बेचारे राणा को विवश हो ऐसा ही करना पड़ा। अब जयपुर नरेश ने एक बड़ी भारी सेना लेकर चित्तौड़ पर चढ़ाई कर दी। सम्पूर्ण राजस्थान में हल चल मच गयी। दूसरा महाभारत होने को है ऐसा प्रतीत होने लगा। घोर युद्ध आरम्भ हो गया। रक्त की नदियाँ बह निकली, लाखों वीर पुरुष धराशायी हो गये।

इस समय अमीरखाँ ने राणा को एक घृणित सम्मति दी कि 'इस युद्ध के मूल कारण का काम तमाम कर देना चाहिए। महाराणा ने वज्र-हृदय करके उस दुष्ट के इस घृणित प्रस्ताव को सुना। सुना ही नहीँ परन्तु मजबूरन उसे ऐसा करने पर उतारू होना पड़ा। अस्तु इस घोर पाप करने के लिए राजा दौलतसिंह नियत किये गये। यह प्रस्ताव सुनते ही उसने क्रुद्ध हो कर कहा, "धिक्कार है उस जिह्वा को जो ऐसी आज्ञा देती है। यदि इस सेवा का यही फल है तो धिक्कार है ऐसी सेवा को। मैँ ऐसा पाप नहीँ करूँगा।" यह कह सभा से उठकर चला गया।

तब राजा जीवन दास जोकि राजकुमारी का सौतेला भाई था बुलाया गया और उसे देशकाल सब समझा कर इस बात पर राजी किया कि वह कृष्णा की हत्या करे। वह खड्ग लिए अंतःपुर मेँ कृष्णा के पास पहुँचा। उसे देखते ही कृष्णा खड़ी

हो गयी और हँसकर अपने भाई की कुशल पूछने लगी। भाई ने कहा, "बहिन कुशल कहाँ? मुझे तेरे बध करने की आज्ञा हुई है। राणाजी की आज्ञा है कि तुम्हें अपने देश की रक्षा के लिए प्राण दे देने चाहिये। यह युद्ध देश का नाश कर रहा है।" यह सुनतेही कृष्णा के मुख पर एक अद्भुत ज्योति प्रकाश-मान हो गयी वह प्रसन्नता से बोली, "भाई, इस में चिन्ता की क्या बात है। हमारे वंश की सैकड़ों कुमारियाँ अपने देश के लिए बलिदान हो चुकी हैं। तुम अपनी बहिन को भी किसी बात में उनसे कम न पाओगे। यदि पिता जी की यही आज्ञा है तो मैं उपस्थित हूँ। आओ, और अपना कर्तव्य पालन करो।" कृष्णा के मुख से ऐसे वीर वाक्य सुन कर उसका कलेजा दहल गया और खड्ग उसके हाथ से छूट गया। वह यहाँ से चुपके ही भाग गया।

यह उपाय भी निष्फल हुआ। अब विष देना निर्धारित किया गया। हलाहल विष तैयार किया गया और कृष्णा के पास भेजा गया। प्रसन्नचित्त होकर कृष्णा ने उसे पी लिया। ऐसा देखकर सारे रनवास में हाहाकार मच गया। माता डीट मार मार रोने लगी। इस कोलाहल में भी कृष्णा जरा भी विचलित नहीं हुई। दृढ़ता पूर्वक माता से बोली, "माता जी, आप इस भाँति क्यों बिलखती हैं। मृत्यु का कुछ भय नहीं है। भय क्यों हो क्या मैं आपकी पुत्री नहीं हूँ अपने देश में शांति-स्थापन करने के लिए ही मैं प्राण त्याग करती हूँ फिर शोक का क्या काम? आप धैर्य धारण करें और मुझे अपना कर्तव्य पालन करने दें।"

पहले विष का कुछ भी असर नहीं हुआ । दूसरा प्याला दिया गया वह भी निष्फल हुआ। तीसरी बार फिर दिया गया वह भी निष्फल हुआ। मानों मृत्यु भी उस निरपराध राजकुमारी को नहीं मारना चाहती थी। अस्तु चौथी बार घोर हलाहल विष दिया गया। अपनी मृत्यु चाहती हुई कृष्णा ने वह भी पी लिया। अबकी बार दुष्टों के मन की हुई। परन्तु मेवाड़ के अमल यश में यह घटना चन्द्रमा में कलंक की भाँति चिरस्थायी रहेगी।

कर्त्तव्य-निष्ठा

न् १८५६ की साल में राज-विद्रोह की विकट ज्वाला भड़क उठी थी। चारों ओर शस्त्रों की झनझनाहट सुन पड़ती थी, चारों ओर अशांति देवी का अखंड राज्य हो गया था। किसी के जान-माल की खैर नहीं थी। जिधर देखो उधर ही मार काट की आवाज सुनाई पड़ती थी। बंगाल से दिल्ली तक की भूमि रक्तमयी सी हो गयी थी। राजपूताना भी छूत से न बच सका। ऐसा अवसर पाकर कोटा राज्य की कृतघ्न फौज अपने स्वामी से बदल गयी। राजा की हत्या करके मंत्री और सेनापति ने राज छीनना चाहा। नमक हराम मंत्री तथा सेनापति—जैदयाल और महरावखाँ—ने अपने कर्त्तव्य से विमुख होकर लोभवश अपने स्वामी के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया।

महाराव जी बड़े बुद्धिमान तथा राजनीतिज्ञ थे। जब उन्होंने अपना बचाव कहीं न देखा तो अपने मंत्री और सेना-पति को बातों का भुलावा देकर उन्हें इस गर्हणीय कार्य करने से कुछ दिन के लिए अपनी नीति कुशलता से रोका इस अवसर में अपने सम्बंधी करौली नरेश महाराज मदन-पाल से सहायता की प्रार्थना की। महाराज मदनपाल की चचेरी बहिन का विवाह कोटा नरेश महाराज रायसिंहके सुपुत्र छत्रशाल जी से हुआ था।

महाराज ने इस सहायता विषयक पत्र को पाते ही अपने सरदारोँ तथा मंत्रिओँ को बुलाकर सलाह की। तुरंत ही वीर राजपूत योद्धाओँ की एक छोटी सी फौज बना कर भेजना निश्चित हुआ। बस दो तीन दिन ही मेँ चुनाव हो गया। शुभ मुहुर्त मेँ प्रस्थान करके इस छोटी सी सेना ने लोटन-पीर के मैदान मेँ अपना पड़ाव डाला। दूसरे दिन महाराज ने स्वयं जा कर अपने राजपूत योद्धाओँ को एक जोशीली वक्तृता से उत्साहित किया। प्रत्येक वीर का अलग अलग सन्मान करके वे बोले, " प्यारे भाइयो ! आज मैँ आपको मरने के लिए भेज रहा हूँ। इस समय ऐसा कौन कमवख्त होगा जो मरने से जी चुरावेगा। राजपूतोँ को प्राणोँ से अपना गौरव और प्रतिज्ञा शतवार अधिक प्रिय है। आप के ही भरोसे मैँ ने कोटा नरेश को सहायता देने का वचन दिया है। यह मुझे अच्छी तरह मालूम है कि उस बड़ी सेना के सन्मुख यह छोटी सी टोली कुछ भी नहीँ है। परन्तु वीरोँ ! मुझे आपका साहस, बल और पराक्रम भली भाँति विदित है। उन सौ सौ नमक हराम गीदड़ोँ के लिए हमारा एक एक वीर काफी होगा। मुझे भरोसा है, प्यारे भाइयो ! करौली का गौरव और प्रतिष्ठा आप लोगोँ के ही हाथ है। कोटा राज्य बाई का राज है। यदि वह उनके हाथ से निकल जावेगा तो जन्म पर्यंत बाई जी का निर्वाह करना हमारा कर्तव्य होगा। परन्तु हमारा राज्य इतना बड़ा नहीँ कि ऐसा कर सकेँ। फिर कहिये आप लोगोँ का क्या कर्त्तव्य होगा। आप लोग स्वयं विद्वान हैँ स्वयं विचार शील हैँ। अंत मेँ मेरा कहना यही है कि अपने गौरव का ध्यान रखना।"

राजा के ऐसे वाक्यों में भी क्या ही जादू का असर होता है कि जिनके सुनते ही वीर लोग अपने कुटुम्ब, धन और जीवन तक का मोह छोड मरने को उद्यत हो जाते हैं।

महाराज के ऐसे वाक्य सुन कर उस छोटी सी मंडली में सिंह नाद हो उठा। 'गौरव का ध्यान रखना' उनके हृदय में चुभ गया। वे कहने लगे "महाराज ! क्या हम अपनी जन्म भूमि का तथा अपने वंश का नाम कलंकित करेंगे ?" 'कभी नहीं' 'कभी नहीं' की ध्वनि चारों ओर व्याप्त हो गयी।

निदान मलूकपाल जी के सेनापतित्व में उस सैना ने कोटा की ओर प्रस्थान कर दिया। थोड़े दिवस में कोटा के पास फौज जा पहुँची और चंबल के इस पार अपना डेरा लगा दिया। इस विकट मंडली को देख शत्रुओं के कान खड़े हुए। परन्तु अनेक बातें बना कर ये लोग उनके पाहुने बन कर किले में जा घुसे। अब क्या था सब तैय्यारी तो थी ही बस फाल्गुन सुदी पूर्णमा को लड़ाई छिड़ गयी।

पन्द्रह दिवस तो घोर घमसान युद्ध होता रहा। शत्रुओं ने बार बार किले में घुस जाने का प्रयत्न किया परन्तु वीर यादवों के सामने उनकी पेश न चली। पन्द्रह दिवस तक अविरल युद्ध होता रहा। वीर राजपूतों को सोने तथा खाने तक का समय नहीं मिलता था। दिन को वे लड़ते थे और रात्रि को गिरे हुए कोट की मरम्मत करते थे। थोड़े से राजपूत अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए उस पन्द्रह हजार फौज से लड़ रहे थे।

यों तो प्रति दिन कितने ही योद्धा काम आते थे परन्तु एक बात उल्लेख करने योग्य है। एक दिन एक गोला संतनसिंह के

आकर लगा। गोले के लगते ही उन्हों ने अपनी तलवार खींच ली और बोले 'अरे मन की मन ही में रह गयी'। यह कह कर पृथ्वी पर गिर पड़े। उनके सुपुत्र छत्रसिंह दूसरे मोरचे पर डटे हुए थे और शत्रुओं की बाढ़ रोक कर उनका मान-मर्दन कर रहे थे। उन से एक मनुष्य ने आकर कहा, "छत्रसिंह! तुम्हारे पिता की मृत्यु हुई तुम जा कर उनका दाह संस्कार करो।" वीर छत्रसिंह अपने पिता की मृत्यु का सम्वाद सुन कर ज़रा भी विचलित नहीं हुआ और बोला, "भाई इस समय कैसा दाह कर्म, शत्रु लोग बढ़े चले आ रहे हैं। पिता ने स्वामी के कार्य में देह त्यागी है, मैं भी स्वामी ही के कार्य में लगा हुआ हूँ। इस गुरुतर कार्य को छोड़ कर कहीं नहीं जा सकता। पिताजी ही क्या संध्या तक कई वीरों का बलिदान होगा। संध्या को सब का दाहकर्म-संस्कार कर दिया जायगा।"

क्या ये शब्द कर्त्तव्य-निष्ठा के सूचक नहीं है। ऐसे वीरों ही की कीर्ति संसार में अचल रहती है।

कई दिवस तक युद्ध होता रहा। अंत में अंगरेज़ों की मदद आ गयी। थोड़ी सी ही देर में शत्रुलोगों की मेगजीन उड़ा दी गयी। फिर क्या था अब विजन बोल दिया। कोई भी सामने न पड़ा। महाराव जी शत्रुरहित कर दिये गये। अंगरेज बहादुर एक लाख रुपये अपना फौजखर्च लेकर चल दिये। महाराव जी ने छ माह तक करौली की सेना को रख कर अपने राज्य का सब इंतजाम किया। इसके बाद सेना को विदा कर वे सुखपूर्वक राज करने लगे।

बालाजी पंत

औरङ्गजेब की कुटिल नीति के कारण समस्त भारत भूमि एक बार फिर समर-भूमि बन गयी। दक्षिण में महाराष्ट्र लोग पंजाब में सिक्ख और राजस्थान में राजपूत लोग प्रबल होकर मुगल राज्य की सुदृढ़ नींव को खोदने लग गये थे। बंगाल, लखनऊ तथा हैदराबाद बिल्कुल ही खोखला पड़ गया। इतने पर भी शांति न थी। खास दिल्ली में भी वजीरों के हृदयों में लोभ की अग्नि धड़क रही थी। बादशाह तो केवल नाम मात्र को था। एक के बाद दूसरा इस प्रकार थोड़े ही दिनों में दिल्ली के तख्त पर कई बादशाह बैठे। इसी झंझट के समय जब कि फर्रुखशिअर गद्दी पर बैठा था तो वजीर सय्यद अब्दुलखाँ और सय्यद हुसैन अलीखाँ से उसका कुछ वैमनस्य हो गया। सय्यदों ने चुपचाप महाराज साहूजी की सहायता माँगी। इसके उपलक्ष में नर्मदा नदी के दाहिने किनारे पर बसे हुए गाँवों की चौथ देने का वचन दिया और 'सरदेशमुख' की सनद बादशाह से दिलावा देने का भी वायदा किया। यह बात सुनकर साहूजी ने अपने पेशवा बालाजी विश्वनाथ को सहायता के लिए जाने की आज्ञा दे दी। पेशवा भी अपने सेनापति खण्डेरावदा भाडे और फ़ड़नवीस बालाजी पंत भानु को साथ ले दिल्ली को चल दिया।

बालाजी विश्वनाथ ने दिल्ली में एक मास निवास करके बड़ी चतुराई तथा बुद्धिमानी से फर्रुखशिअर का काम तमाम किया और मुहम्मदशाह को तख्त पर बिठाया।

अब जब महाराष्ट्र लोंगों को 'सरदेशमुख' की सनद देने का समय आया तो दरबारी लोग इस बात पर राजी नहीं हुए। उन्होंने एक षड्यंत्र रचा कि जिस समय पेशवा सनद लेकर लौटें तो मार्ग ही में उनका काम तमाम कर दिया जाय।

सनद देने के लिए दरबार हुआ। परन्तु पेशवा को इस बातकी खबर दूतों ने ठीक उसी समय दी जब कि वे सनद लेकर लौटने वाले थे। पेशवा ने अपने विश्वस्त फडनवीस बाला जी पंत भानु से इस विषय में परामर्ष लिया। उन्हों ने बड़े शान्त भाव तथा मुस्तैदी से उत्तर दिया, "कुछ चिन्ता नहीं। इसकी भी युक्ति है। देखिये आप सनद लेकर अन्य गुप्त मार्ग से चले जाइये। मैं आप की पालकी पर सवार होकर आम राह से जाता हूँ। मैं ही शत्रुलोगों को उचित पाठ पढ़ा दूँगा आपके कष्ट करने की कोई आवश्यकता नहीं।"

पेशवा ने अपने प्राणों को बचाने की इच्छा से दूसरे के प्राण जोखम में डालना उचित नहीं समझा परन्तु बाला जी पंत की युक्ति प्रबल थी। अंत में उन्हें उन्हीं के कहने के अनुसार करने पर बाध्य होना पड़ा।

पेशवा तो गुप्त मार्ग से सकुशल छावनी में पहुँच गये और बाला जो पन्त फड़नवीस सदर मार्ग से बाहर हुए। उन पर आक्रमण करना तो उन दुष्टों ने पहले से ही ठीक कर रक्खा था। निदान हमला हुआ। मरहठे भी इसके लिए तैयार ही थे। थोड़ी देर के लिए घोर युद्ध प्रारम्भ हो गया। मरहठों ने अपनी वीरता का पूरा परिचय दिया।

परन्तु उस असंख्यदल के सामने बिचारे १५०० मनुष्य क्या कर सकते थे। निदान उनकी वह छोटी सी टोली महा सागर में एक तरंग की भाँति विलीन हो गयी। बाला जी पंत तथा सान्ताजी पंत दोनों ने बड़ी वीरता दिखला कर प्राण त्याग किये।

हाँ उनका क्षणभंगुर शरीर तो पात हो गया परन्तु उनका यश भारतवर्ष भर में छा गया। और यों कहों कि वीर पुरुषों को यश और नाम से क्या। उनका हृदय तो केवल कर्तव्य पालन में लगा रहता है। उस कार्य के सम्पादन करने में चाहे उनका नाम हो चाहे बदनामी, वे उससे जरा भी नहीं हिचकते। उस कार्य में यदि प्राण भी जाय तो उन्हें कुछ पर्वा नहीं। ऐसे वीर स्वामिभक्त पुरुष धन्य हैं।

समाप्त